भूमिका

महामहनीय महर्षियों के, सम्यग्दृष्टि साधु-सन्तों के, ज्ञान-विज्ञान की गरिमा के धनी महान् चिन्तकों के, गुरु-चरण-कमल-चञ्चरीक चारित्र-चूड़ामणियों के, मनीषा के महान् महारथियों के, धर्म के धुरन्धर धनियों के, आध्यात्मिक-ज्ञान के समर्थकों के, संसार की निःसारता के दर्शकों के, कर्मों की करुणापूर्ण कहानी के कोविदों के, युग के प्रवर्तकों के, बोध के संवर्धकों के, साधनापथ के उपाध्यायों के, सदाचार-संहिता के आचार्यों के अतीत में असंख्य प्रवचन, व्याख्यान और भाषण अनेक सभाओं में मुखरित हुए, होते आ रहे हैं और हो रहे हैं। जिनको शिष्यों ने, प्रशिष्यों ने, समर्थकों ने और जिज्ञासुओं ने लेखबद्ध कर लिया वे अवशिष्ट रह गए, बच गए काल की कराल-कालिमा से, भावी पीढ़ियों को *तमसावृत-पगडंडी पर प्रकाश की रश्मियों की ज्योति जगाने* के लिए और जो मानव-संस्कृति के दुर्भाग्य से लिपिबद्ध नहीं किये जा सके वे विश्व की तमसाकुल सामग्री के समग्र के परमाणुओं में समा गये, एकाकार हो गये और तिरोहित हो गये किसी अज्ञात दिशा के वातावरण की तरंगों में। जो खो गये, वे आज अज्ञात हैं। जिस संस्कृति के मानवों को उन अमृत के कणों के पान का सौभाग्य प्राप्त हुआ वे पुण्यवान् थे, जो वंचित रह गए सो रह गए, अतीत की पीढ़ी के भी और वर्तमान के भी।

ज्ञान जीवन का सारभूत उपादेय तत्त्व है। वह प्रचार की, विस्तार की और प्रसार की अपेक्षा रखता है। किसी भी मानव-संस्कृति का प्रबुद्ध मानव एवं जागरूक जिज्ञासु अपने युग की चिन्तनधारा की ओर उस चिन्तनधारा *से प्रभावित जनमानस की प्रवृत्ति को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता।* उपेक्षा की भावना न उसके लिए हितकर होती है और न ही उसके भावी जगत् के लिए। अपने युग की मानवीय एवं आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को स्थायित्व प्रदान करना ही जागृत चेतना का लक्षण है। पूर्णरूपेण सुसभ्य, सुसंस्कृत एवं सुप्रतिष्ठित व्यक्ति तो वही होता है जो अपने पूर्वावतारों, महामानवों, पूर्वाचार्यों, सर्वज्ञों एवं युगप्रवर्तकों के चरणचिह्नों पर चलता है। उन चरण-

यथार्थ निर्देश किया जा सकता है कि सबका मंगलमय आगम-सूत्र या वचन-सूक्ति से है। प्राय: प्रत्येक प्रवचन का प्रारम्भ आगम-सूत्र से होता है और समग्र प्रवचन का अन्त कर्मकल्प की सूक्ति से होता है। आगम सूत्र या वचन-सूक्ति — ये दोनों आगम शास्त्र तथा दर्शनशास्त्र के विषय हैं। उपाध्याय प्रवर, मुनि श्री मानचन्द्र जी महाराज का आगमशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र — दोनों का गम्भीर अध्ययन और चिन्तन-मनन होने के कारण, विवक्षित विषय का कोई भी पहलू उपेक्षित नहीं रहने पाया है। कतिपय प्रवचनों में तो वे चिन्तन के क्षेत्र में इतने गहरे उतर गये हैं जहाँ सामान्य श्रावकों की बुद्धि नहीं पहुँच सकती। उनके प्रवचनों की यह विशेषता है कि जब ऐसे कठिन दार्शनिक प्रकरण आ जाते हैं तो वे तुरन्त समझ जाते हैं कि उपस्थित श्रोता उन्हें समझ नहीं पा रहे हैं। ऐसी स्थिति में वे प्रकरण को और सरल बनाकर श्रोताओं के लिए बुद्धिगम्य बना देते हैं। शास्त्रज्ञान सभी के लिए तो रुचिकर नहीं होता, कभी-कभी श्रावकों की बुद्धि की अपेक्षा से नीरस प्रकरण भी आ जाते हैं। उनको रोचक बनाने के लिए वे किसी ऐसी सरल एवं कौतूहलपूर्ण कहानी को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं जिससे नीरस लगने वाला विषय भी सरस बन जाता है। आपके प्रवचनों की शैली प्रासादिक सरल, सजीव, रोचक एवं प्रसाद-गुण-युक्त है। प्रवचनों के संग्रह तो पाठकों ने अनेक पढ़े होंगे किन्तु उपाध्याय मुनि श्री मानचन्द्र जी महाराज की शैली अपनी विशिष्ट मौलिकता लिये हुए है। आपके अधिकतर प्रवचन, आलोचना-शास्त्र के अनुसार व्यास शैली के हैं।

इस पीयूष-कलश को पावन वेदी पर प्रतिष्ठित करने में अनेक सज्जनात्माओं का उत्साह एवं उत्कटापूर्ण योगदान रहा है। आचार्य प्रवर श्री जीतमल जी महाराज सा० की परम पावन प्रेरणा, श्रीमन्मुनि श्री शुभचन्द्र मुनि जी महाराज की एतदर्थ शुभकामना, पारसमणिसम मंगलकारी मुनि श्री पार्श्वचन्द्र जी महाराज का कलश-प्रतिष्ठान में अपूर्व योगदान, प्रतिभाशाली मुनि पूनमचन्द्र जी महाराज की कलश के कलामय कलन में कमनीय कर्मठता, परम अध्यवसायी धर्म-मर्मज्ञ मुनि श्री गुणवन्त जी महाराज द्वारा कलश की गुण-ग्राहकता और स्वाध्याय-निरत मुनि श्री भद्रिक जी महाराज की भद्रिकता सभी का अभूतपूर्व योगदान ही कलश की प्रतिष्ठा को सम्पन्नता में हमें समर्थ बना सका है। आप सबके योगदान के लिए, गुण-गान के लिए और सम्मान-पहचान के लिए जिन विशेषणों की आवश्यकता है, उन्हें मैं खोज नहीं पा रहा हूँ अपने संचित शब्द-कोष में।

२०-४-१९८० नम्रनिवेदक:

ब्यावर (राजस्थान) पुरुषोत्तमचन्द्र जैन

विषयानुक्रमणिका

प्रकाशकीय

प्रवचन-साहित्य की दृष्टि से सर्वप्रथम किन्तु अन्यान्य प्रकाशनों की शृंखला में समिति का यह दशम पुष्प आपके हाथों में है 'प्रवचन-पीयूष-कलश' --प्रथम कलश। इसमें महामहिम आचार्य-प्रवर पूज्य श्री जीतमलजी महाराज की निश्रा के प्रमुखतम सन्त, आगमव्याख्याता, पण्डित-रत्न, उपाध्याय-प्रवर श्रीप्यारचन्दजी महाराज के देह-आनुमति में प्रोक्त १८ प्रवचनों का संकलन है।

इधर बहुत वर्षों से श्रद्धालु भक्तजनों एवं जिज्ञासु श्रावकों की यह मांग अवश्य थी कि पूज्य उपाध्याय-प्रवर के प्रवचनों का सुंदर संकलन सम्पादन शीघ्र प्रकाशित हो, किन्तु इसके कार्यान्वयन की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। सम्भवतः सर्वप्रथम प्रस्तुत कलश के सम्पादक श्री डॉक्टर पुरुषोत्तमचन्द्र जैन ने ही सब का ध्यान इस ओर खींचा एवं स्वयं ने भी योजनाबद्ध रीति से प्रवचनों के इस पीयूष-कलश का कलन सुचारु सम्पन्न किया। समिति डॉक्टर जैन को अनेकों धन्यवाद प्रदान करती है एवं उनके प्रति आभार प्रकट करती है।

पूज्य उपाध्याय प्रवर की ओजस्वी वाणी, उनका गहन शास्त्रीय अध्ययन-अनुशीलन, भाषा-व्याकरण का प्रखर पांडित्य, चमत्कारिक स्मरणशक्ति, आशु-कवित्व एवं अद्भुत वर्णन शैली आदि अनेक गुणों से ओतप्रोत उनके एक-एक प्रवचन में वह क्षमता है कि आस्वादमात्र से मोहनिद्रा में सुषुप्त प्राणियों के प्राणों में पीयूष-प्रवाह-सा उमड़ने लगता है एवं नूतन जीवन का संचार हो जाता है। इस दृष्टि से ग्रंथ का नाम 'प्रवचन-पीयूष-कलश' भी सार्थक है एवं प्रवचनकार का 'उपाध्याय' पद भी सार्थक है।

विद्वज्जनों का आशीर्वाद एवं श्रद्धालु पाठकों का सहयोग बना रहा तो समिति यह कह सकती है कि निकट भविष्य में ही द्वितीय कलश भी पाठक वृंद के समक्ष होगा।

प्रस्तुत कलश में संकलित सभी प्रवचनों में प्रायः 'बंधन-मुक्ति एवं शाश्वत सुख' विषयक विवेचन है। कषाय, बंध या बंधन, का कारण है एवं बंधन,

बन्धन-मुक्ति : शाश्वत-सुख

मुक्ति शाश्वत सुखों की निधि है। जीव की दो प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं १. बद्धावस्था और २. अबद्धावस्था। दोनों अवस्थाओं से संयुक्त प्राणी पृथक्-पृथक् नामों से जाने जाते हैं। एक को 'संसारी' एवं दूसरे को 'मुक्त' कहा जाता है। कर्म बन्धन से बद्ध संसारी कहलाता है और कर्मों की निर्जरा करने वाला मुक्त कहलाता है। 'संसारी' शब्द की निरुक्ति के अनुसार संसार में सतत भ्रमण करने वाला इधर से उधर, उधर से इधर, नीचे से ऊपर, ऊपर से नीचे, किधर भी आवर्तन हो, उधर चला जाने वाला संसारी होता है। कर्मबद्ध जीवों का आवर्तन के अनुसार इधर-उधर जाना तो स्वाभाविक ही होता है किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि बन्धन में बंधे होने पर भी जीव बन्धन के ज्ञान से हीन होते हैं। ज्ञानाभाव के कारण ही वे बन्धन से छूटने का किंचित् प्रयास भी नहीं कर सकते। वे बन्धन के इतने आदी हो जाते हैं कि बन्धन बुरा लगने के स्थान पर उन्हें अच्छा लगने लगता है। यही कारण है कि बन्धन से छुटकारा पाने के स्थान पर वे बन्धन को और अधिक दृढ़ बनाने में प्रयत्नशील रहते हैं। वास्तव में, वे बन्धन को बन्धन नहीं, अवलम्बन समझने लगते हैं। मानव के अतिरिक्त, बन्धन की आसक्ति का उदाहरण पशु-जगत् में भी देखा जा सकता है। लोग पशुओं को पालते हैं, उन्हें खिलाते हैं, पिलाते हैं और खूंटे से बांधकर रखते हैं। उन्हें चरने के लिए चरागाह में भेज देते हैं। घास चरने के पश्चात् तृप्त होकर पशु पुनः अपने खूंटे के पास आकर खड़े हो जाते हैं, बन्धन के लिए। स्वामी द्वारा तिरस्कृत होकर भी पशु भागते नहीं, कारण कि वे बन्धन को सुख का कारण मानने लगते हैं। उन्हें हिताहित का विवेक नहीं होता। मानव होकर भी क्या हमने कभी इस विषय का चिन्तन किया है?

ठीक पशुओं के समान, मानव को भी बन्धन प्रिय लगता है। शास्त्रकारों ने बन्धन के दो भेद किये हैं—१. राग और २. द्वेष। आवश्यक सूत्र में

"पडिक्कमामि दोहिं बंधणेहिं"

किस प्रकार प्रहार किया जा सकता है। लोग विश्वास के स्थान से ही अधिक धोखा खाया करते हैं।

मित्र बनाते समय कम से कम इस बात का ध्यान तो अवश्य रखना चाहिए कि वह मूर्ख न हो। मूर्ख मित्र से तो विद्वान् शत्रु भला होता है। हितोपदेश में इसी सत्य को अभिव्यक्ति देते हुए लिखा है :

"पण्डितोऽपि वरं शत्रुर्न मूर्खो हितकारकः।"

इसी प्रसंग में एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं .

एक बार एक चोर राजमहल में चोरी करने के लिए गया। वह चोर अवश्य था किन्तु था विद्वान्। निर्धनता से लाचार होकर वह चोरी करने गया था। राजमहल में प्रवेश करते ही उसने एक विचित्र दृश्य देखा। राजा पलंग पर सो रहा था और उसकी रक्षा के लिए एक बन्दर तैनात था। बन्दर तलवार लिए था। जहाँ राजा सोया हुआ था, उसके ऊपर की छत के छिद्र से एक सर्प नीचे की ओर लटक रहा था। साँप की छाया प्रकाश में राजा पर पड़ रही थी। बन्दर ने राजा के ऊपर प्रतिबिम्बित सर्प की छाया को देखकर सोचा कि सर्प राजा को डसना चाहता है। वह तलवार से छाया-सर्प को मारने के लिए उद्यत हो गया। बन्दर ने सोचा था कि राजा को डसने से पूर्व ही सर्प को मारना उचित होगा। छाया-सर्प को मारने के लिए उसने तलवार उठाई। राजमहल में चोरी करने के लिए प्रविष्ट हुआ विद्वान् चोर यह सारा दृश्य देख रहा था। उसने सोचा, "छाया-सर्प पर बन्दर द्वारा चलाई गई तलवार से सर्प तो मरने वाला नहीं किन्तु राजा अवश्य मर जायेगा। मेरा इस समय कर्तव्य है कि मैं राजा के इस मूर्ख मित्र से राजा की रक्षा करूं।" चोर ने झपटकर बन्दर का तलवार वाला हाथ पकड़ लिया। बन्दर चिल्लाया तो राजा की नींद खुल गई। उसने बन्दर और चोर में रस्साकशी को देखा। राजा को कारण समझने में देर न लगी। राजा ने चोर से पूछा, "तुम कौन हो ?" "चोर हूं, हुजूर ! चोरी करने के लिए राजमहल में आया था। भूखा था, भूखा प्राणी क्या-क्या पाप करने के लिए उतारू नहीं हो जाता, 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।' सोचा था कि सामान्य जन के घर में क्या चोरी करना। राजा के महल में किसी भी वस्तु की कमी नहीं है, वहीं चोरी करना ठीक रहेगा। यहाँ आकर तो बड़ा ही विचित्र दृश्य देखा। कर्तव्य-पालन ने चोरी की भावना पर विजय प्राप्त की। मैं चोर होकर भी भला अपने राजा के प्राणों को संकट में कैसे देख सकता था ? यह मूर्ख बन्दर आप पर तलवार का वार करना चाहता था। मैंने इसका हाथ पकड़कर इसे रोक दिया, इसलिए यह चिल्ला रहा है।"

है। इसलिए हमें चाहिए कि हम अपने अनादिकालीन अयथार्थ दृष्टिकोण को बदलें। बन्धन को सुख का साधन न मानकर बन्ध के रूप में ही जानने का प्रयत्न करें एवं फिर उससे मुक्त होने का प्रयत्न करें। तभी हम शाश्वत सुखों की ओर अग्रसर हो सकेंगे। शाश्वत सुख या मोक्षप्राप्ति के लिए राग-द्वेष के बन्धनों से मुक्ति परमावश्यक है।

जैन-भवन, मेड़ता (नागौर) — ७ जुलाई, १९७९

बनते जाते हैं। वह राग कभी मन्द नहीं रहा किन्तु उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। जिन बातों से हमने द्वेष किया है जैसे: ममत्व का त्याग, परिग्रह वस्तु का त्याग, मन को भाने वाली वस्तुओं का त्याग आदि में हमारी द्वेष भावना रही है या उन पर और द्वेष रहा है। यदि वह द्वेष अल्प समय के लिए भी मन्द पड़ गया होता या शिथिल पड़ गया होता तो जीवन में निश्चित रूप से शिथिलता आ जाती। दूसरे शब्दों में मिथ्यात्व पतला पड़ जाता। किन्तु ऐसा नहीं हो सका इसका मुख्य कारण यही है कि जिन बातों से हमने राग किया, उनके साथ निरन्तर हमारा राग भाव ही बना रहा और जिनसे द्वेष किया उनके प्रति द्वेष ही चलता रहा।

आत्मा के उत्थान के लिए देव, गुरु और धर्म ये तीन माध्यम हैं। देव, गुरु और धर्म—ये तीनों सापेक्ष शब्द हैं। इन तीनों की भी कोटियाँ हैं: कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, सुगुरु, सुदेव, सुधर्म, सामान्य गुरु, सामान्य देव और सामान्य धर्म। प्रथम तीन त्याज्य हैं, अगले तीन आदरणीय एवं अंतिम तीन केवल जानने योग्य हैं। चौथा कोई भी विकल्प नहीं हो सकता क्योंकि यह वाणी तीन कालों भूत, भविष्यत्, वर्तमान—के ज्ञाता सर्वज्ञों की है। इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं किया जा सकता।

देव तीन प्रकार के होते हैं. जानने योग्य, छोड़ने योग्य और आदरने योग्य। इसी प्रकार गुरु भी तीन प्रकार के होते हैं जानने योग्य, छोड़ने योग्य और आदरने योग्य। इसी प्रकार धर्म भी जानने योग्य, छोड़ने योग्य और आदरने योग्य होता है। मात्र देव, गुरु और धर्म ही नहीं किन्तु संसार के प्राय सभी पदार्थ तीन प्रकार के होते हैं। निम्नलिखित उदाहरण से यह भाव और स्पष्ट हो जायेगा। एक व्यक्ति बाजार से धान की बोरी खरीद कर लाता है। लाकर अपनी पत्नी को सौंप देता है। बोरी को खोलकर उसकी पत्नी सारा धान पृथ्वी पर डाल देती है। बाजार से बोरी के रूप में केवल एक नग आया था किन्तु अब बोरी और धान, दो नग बन गये। गृह-स्वामिनी अब धान का सोहना-शोधन करती है। 'पहले सोहे फिर पोवें'। यह एक पुरानी कहावत है। सोहना प्राकृत का शब्द है, संस्कृत में इसका रूप शोधन बन जाता है जिसका अर्थ है शुद्ध करना। धान के अन्दर अनेक वस्तुएं—मिट्टी, कंकर, घास, फूस और कचरा मिले होते हैं। इन वस्तुओं का खलिहान में धान के साथ मिल जाना इतना बुरा नहीं है जितना कि इनको जान-बूझकर धान में मिलाना है। हमें तो यह सुनने में आया है कि लालच के वशीभूत होकर व्यापारी लोग अधिक मुनाफा कमाने के लिए उक्त वस्तुओं का धान में मिश्रण कर देते हैं। ऐसा करके व्यापारी लोग अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए दूसरों की जिन्दगी के साथ खेलते हैं। क्या यह महापाप और महापराध नहीं है? केवल धान में ही नहीं, औष-

किसी विद्वान् ने इस प्रसंग पर ठीक ही तो कहा है

> अल्पं ज्ञानं तु पाण्डित्यं, क्रयक्रीतं च मैथुनम् ।
> भोजनं च पराधीनं, तिस्रः पुंसां विडम्बना ॥

अर्थात्—

थोड़ा-थोड़ा ज्ञान, खरीदा हुआ सम्भोग और पराधीन भोजन — इन तीनों बातों को जीवन की विडम्बनायें ही समझना चाहिए।

अल्प ज्ञान तो अल्प ज्ञान ही है, उसमें पूरी और वास्तविक जानकारी कहाँ हो पाती है ? अल्प ज्ञान के कारण ही लोग उचित प्रसंगों में अनुचित टाँग अड़ाया करते हैं।

ज्ञेय के भाव को और स्पष्ट इस प्रकार किया जा सकता है। हम एक हजार व्यक्तियों के नाम जानते हैं या उनसे परिचित हैं। उस बड़ी संख्या में से केवल पाँच व्यक्ति ही हमारे काम आते हैं या हमारी आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। तो सार यह निकला कि वे पाँच व्यक्ति ही ज्ञेय- जानने योग्य हैं, शेष तो मस्तिष्क के लिए भाररूप हैं, हेय हैं—त्यागने योग्य हैं। कचरे को निकालकर ही जानने योग्य वस्तु को जाना जा सकता है। ऊपर दिये बोरी के उदाहरण में बोरी जानने योग्य है, धान में मिले हुए कंकर, पत्थर त्यागने योग्य हैं और धान-कण आदरने योग्य हैं। विश्व के सभी पदार्थ ज्ञेय, हेय और उपादेय के भेद से तीन प्रकार के हैं। जानने योग्य को जानना चाहिए, त्यागने योग्य को त्याग देना चाहिए और ग्रहण करने योग्य को ग्रहण कर लेना चाहिए।

ज्ञानी पुरुषों ने देव, गुरु और धर्म, इन तीनों का विस्तृत वर्णन किया है। इनमें से कौन-सा देव, कौन-सा गुरु और कौन-सा धर्म ज्ञेय है, हेय है अथवा उपादेय है, यह जान लेना और भलीभाँति समझ लेना परमावश्यक है। सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चा धर्म— ये सम्यक्त्व के प्रतीक हैं। कुदेव, कुगुरु और कुधर्म —ये मिथ्यात्व के प्रतीक हैं और मिथ्यात्व के बन्धन को दृढ़ता प्रदान करने वाले हैं। इनके द्वारा सांसारिक-भौतिक पदार्थों के प्रति हमारी लालसा बढ़ती है, रुचि उत्पन्न होती है और आकर्षण बढ़ता है। परिणामस्वरूप हम अधिकाधिक परवश होते जाते हैं। इसके विपरीत, सुदेव, सुगुरु और सुधर्म हमें स्वावलम्बी बनाते हैं और स्वतन्त्र बनाते हैं। सुदेव, सुगुरु और सुधर्म कौन-से हैं—इस बात की पहचान करना सम्यक्त्वी व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इस विषय पर ज्ञानी पुरुषों ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। सम्यक्त्व के निरूपण में देव, गुरु और धर्म की व्याख्या करते हुए अरिहन्त को देव, निर्ग्रन्थ को गुरु और अरिहन्त-प्रतिपादित धर्म को धर्म कहा गया है।

में गुरु, इन्हीं की संगति मिलती रहे, इनकी वाणी मेरे कानों को पवित्र करती रहे और मुझे इनकी शरण मिलती रहे जिससे मेरी आत्मा का उद्धार हो सके। मेरे इस विवरण से आप भलीभांति समझ गए होंगे कि जो तीव्र राग और द्वेष पहले अप्रशस्त थे, वे स्थान-परिवर्तन के कारण प्रशस्त बन गए। सुगुरु, सुदेव, सुधर्म के प्रति राग होने लगा और कुगुरु, कुदेव कुधर्म के प्रति द्वेष रहने लगा। एक प्रशस्त राग बन गया और दूसरा प्रशस्त द्वेष बन गया। जो राग और द्वेष पहले अहितकारी थे वे अब इतने हितकारी बन गए कि जीव को राग द्वेष विमुक्ति के भी साधक बन गए।

पैर में जब कांटा लग जाता है तो वह कांटे के विरोधी फूल से तो नहीं निकाला जा सकता, वह तो कांटे से ही निकाला जा सकता है। इसी से नीतिकार ने कहा है

"कण्टकेनैव कण्टकम्"

निकालने वाला कांटा लगने वाले कांटे से दृढ़तर होना चाहिए अन्यथा निकालने के स्थान पर वह स्वयं भी लग जायेगा। अप्रशस्त तीव्र राग और अप्रशस्त तीव्र द्वेष रूपी कांटे अनादिकाल से हमारे शरीर में लग रहे थे। प्रशस्त-राग और प्रशस्त-द्वेष रूपी दृढ़तर कांटों ने उनको निकालकर जीवन को परिवर्तित कर दिया। इसीलिए, प्रशस्त-राग और प्रशस्त द्वेष के द्वारा ही जीव का उद्धार सम्भव है, अन्यथा नहीं। सुगुरु, सुदेव और सुधर्म पर होने वाला राग धीरे-धीरे वीतरागता में बदल जाता है। इसको जीवन की महान् उपलब्धि समझना चाहिए।

जिस प्रकार निर्धनावस्था में ही व्यक्ति धनवान बनने का प्रयत्न करता है, मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी विद्वान् होने के लिए प्रयत्नशील रहता है, बद्धावस्था व्यक्ति को मुक्त होने के लिए उद्यमवान् बनाती है, ठीक इसी प्रकार मिथ्यात्व की कारा से मुक्ति पाने के लिए सम्यक्त्व की उपलब्धि का प्रयत्न किया जाता है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, "राग और द्वेष दो बन्धन हैं। ऊपर से दो दिखाई देते हैं, वास्तव में एक ही है।" प्रशस्त रूप में जब वे हमारे सामने आते हैं तो हमें व्रत, पच्चखान आदि मर्यादाओं व नियमों के प्रति हमें रुचि होने लगती है। फलस्वरूप हम सम्यक्त्व की ओर बढ़ने लगते हैं और हमारे संचित कर्मों का क्षय होने लगता है। संचित कर्मों का क्षय ही शाश्वत सुख है जिसे आध्यात्मिक भाषा में मोक्ष के नाम से पुकारा जाता है।

जैन-भवन, केकड़ी (नागौर) ८ जुलाई, १९७६

एक ही बस में चढ़ गये। बस में कोई वार्तालाप नहीं हुआ। अचानक दोनों ही दोनों उतर गये। थोड़ी पहचान के कारण दोनों साथ-साथ हो लिए और दोनों ने एक साथ नगर में प्रवेश किया। अब दोनों के सामने भोजन की समस्या थी। एक बोर्ड पर पढ़ा –

"शुद्ध और स्वादिष्ट भोजनशाला'

दोनों ने भोजनशाला में प्रवेश किया। प्रबन्धक ने पूछा -

'आप कौन हैं, कहाँ जा रहे हैं और किस लिए जा रहे हैं ?" एक ने चमड़े की खरीद के लिए तथा दूसरे ने घी की खरीद के लिये दिसावर जाने की बात कही।

प्रबन्धक ने दोनों के भोजन की व्यवस्था कर दी। घी के व्यापारी की तो घर के अन्दर ही सुन्दर आसनादि द्वारा व्यवस्था की गयी। जबकि चमड़े के व्यापारी को सामान्यजन की तरह बाहर बरामदे में ही बैठा दिया गया। चमड़े का व्यापारी मन में सोच रहा था, "मैं चमड़े का व्यापारी हूँ, इसलिए सम्भवतः मुझे नीच समझकर बाहर ही बैठा दिया गया है और घी के व्यापारी को महाजन समझकर उसकी घर के अन्दर अच्छी व्यवस्था कर दी है।"

दोनों वहाँ भोजन करके अपने काम के लिये रवाना हो गये। दो माह तक दोनों भिन्न भिन्न स्थानों में अपने-अपने माल की खरीदारी करते रहे। मालगाड़ियों में माल भेजकर दोनों उसी नगर में लौटे तो पुनः दोनों की भेंट हो गयी। दोनों ने अपने-अपने माल की खरीदारी की चर्चा की। दोनों भोजन करने की इच्छा से पहले वाले भोजनालय में ही गये। प्रबन्धक से परिचय था ही, दोनों का कुशल मंगल पूछकर व्यापार की सफलता के विषय में पूछा। दोनों ने अपनी-अपनी सफलता के लिए पूर्ण सन्तोष प्रकट किया। पूर्व की भोजन-व्यवस्था के विपरीत, प्रबन्धक ने अब की बार जो चमड़े का व्यापारी था उसके भोजन की व्यवस्था तो बड़े ही सुन्दर ढंग से भवन के अन्दर की और घी के व्यापारी को सामान्यजन की तरह बाहर बरामदे में बैठा दिया। दोनों व्यापारी बड़े आश्चर्यचकित थे, व्यवस्था की विपरीतता पर। भोजन की समाप्ति पर दोनों ने भोजन प्रबन्धक से कहा, "यदि आप बुरा न मानें तो क्या हम आपसे एक बात पूछ सकते हैं ?" "बुरा मानने की क्या बात है ? आप बड़ी प्रसन्नता से पूछिये।" प्रबन्धक ने प्रत्युत्तर दिया। घी के व्यापारी ने कहा, "पहले जब हम दोनों यहाँ भोजन करने आये थे तो आपने मुझे तो मकान के अन्दर बैठाकर बड़े ही सुन्दर ढंग से भोजन कराया था और मेरे साथी को बाहर बरामदे में बैठाकर ही साधारण व्यक्ति के समान भोजन कराया

जब जागो तभी सवेरा

शाश्वत सुख की उपलब्धि के लिए ही इस मानव भव की प्राप्ति हुई है। लाखों योनियों में परिभ्रमण करने के पश्चात् ही यह मानव-भव मिलता है। ठीक ही तो कहा है किसी कवि ने

"मानव के चोले का पाना बच्चों का कोई खेल नहीं।
जन्म जन्म के शुभकर्मों का मिलता जब तक मेल नहीं॥"

अर्थात् अनेक जन्मों में किये गये शुभ-कर्मों का जब तक मेल नहीं मिल जाता तब तक मनुष्य-जन्म नहीं मिला करता। शास्त्रकार भी इसी सत्य की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि जब आत्मा के अधिक से अधिक कर्मों का क्षय हो जाता है तो आत्मा 'हलुकर्मी' बन जाता है। हलुकर्मी बनने से ही आत्मा मानव योनि में आता है। हलुकर्मी, शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। कर्मों के हलके होने को 'हलुकर्म' कहा जाता है। 'हलु' अपभ्रंश भाषा का शब्द है और प्राकृत का शब्द इसके स्थान में 'लहु' है। 'लहु' शब्द का व्यत्यय होने से 'हलु' बन गया है। हलुकर्मी—हलके कर्मों वाला, संस्कृत में इसका विपरीतार्थक शब्द है 'गुरुकर्मी' भारी कर्मोंवाला। शास्त्र के अनुसार :

"कम्माण तु पहाणाए"

कर्मों की जब प्रकर्ष से हानि हो जाती है और

"आणुपुव्वी कयाइ उ"

आत्मा अनुक्रम से शुद्ध होती जाती है। कर्मों के क्षय से जैसे-जैसे उत्तरोत्तर आत्मा शुद्ध होती जाती है वैसे-वैसे वह ऊर्ध्वगति की ओर अग्रसर होती है, इसके लिये शास्त्रों में तुम्बे का उदाहरण बड़ा प्रसिद्ध है। एक बार भगवान् से जब यह प्रश्न पूछा गया कि :

"जीव का क्या स्वभाव है?"

उन्होंने उत्तर में कहा :

बन्धन के कारण ही आत्मा को अनेक योनियों में भटकना पड़ता है। जिस प्रकार लोग बैल के नाक में रस्सी डालकर उसे परतन्त्र बना देते हैं, उसकी स्वतन्त्रता छीन लेते हैं। बैल अपनी इच्छा से कहीं भी नहीं जा सकता। उसे तो नाथ की रस्सी पकड़कर किसान जहाँ चाहते हैं, ले जाते हैं। बैल की इच्छा के विपरीत किसान उसे चाहे हल में जोत ले, गाड़ी में जोत ले और चाहे रहट में। ठीक इसी प्रकार की दशा कर्मों के बन्धन में बंधे आत्मा की भी है। कर्म उसे कभी नीचे ले जाते हैं और कभी ऊपर। वह कर्मों का दास है। आनुपूर्वी नाम का कर्म आत्मा को जहाँ ले जाता है वहीं उसको जाना पड़ता है। आनुपूर्वी नामक कर्म, नाम-कर्म का ही एक भेद है। नाम-कर्म की ९३ प्रकृतियों में से 'आनुपूर्वी' भी एक प्रकृति है। इसके चार भेद हैं। चार गतियों के नामों के अनुसार ही इनके नाम हैं। जैसे, नरकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी। कर्मविपाक नामक प्रथमकर्म-ग्रंथ में इसका सविस्तार वर्णन है। "जीव को उसके कर्मों के अनुसार विभिन्न गतियों में परिभ्रमण कराना"— बस, यही कार्य है आनुपूर्वी नामक कर्म का। नाम-कर्म आत्मिक गुणों का तो घात नहीं करता किन्तु शरीर संबंधी प्रकृतियों पर अपना प्रभाव अवश्य डालता है। शरीर की लम्बाई-चौड़ाई, गौरवर्ण-कृष्णवर्ण, सौन्दर्य विद्रूपता आदि सब इसी कर्म के अधीन हैं। ९३ प्रकार से शरीर की प्रकृतियों का बन्ध होता है। शरीर का शक्तिशाली होना, ढीला होना, खूबसूरत होना, बदसूरत होना आदि-आदि नाम-कर्म की ९३ प्रकृतियाँ हैं।

आत्मा के गुणों का घात तो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—ये चार कर्म ही करते हैं। इसलिए इन्हें 'घातक कर्म' भी कहते हैं। घातक कर्मों में भी सर्वाधिक आत्म गुण-घातक मोहनीय कर्म है। उसकी २८ प्रकृतियाँ हैं। सब प्रकृतियों में 'मिथ्यात्व' नाम की प्रकृति बहुत प्रबल है। मोह सब कर्मों का राजा है। तभी तो आगमकार फरमाते हैं:

> "जहा मत्थए सूइए, हंताए हम्मइ तले।
> एवं कम्माणि हम्मंति, मोहणिज्जे खयं गये॥"
>
> —दसासुयक्खंध सुत्तं, ५/११

—कि जिस प्रकार ताड़ के वृक्ष के मस्तक पर सूई की नोक का प्रहार करने से वह निर्जीव होकर गिर जाता है, ठीक उसी प्रकार यदि केवल मोहनीय कर्म का विनाश कर दिया जाय तो शेष कर्म अपने आप विनष्ट हो जाते हैं। *आगम का यह वचन बड़ा ही सारगर्भित है।*

ताड़ का वृक्ष बड़ा ही लम्बा, चिकना और दृढ़ होता है। उसे काटना

लिए आसान काम नहीं है।

हम तो सदा से कहते आ रहे हैं कि "श्रावकों ! क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग करो परन्तु त्याग के स्थान पर वह तो आदमें दिनोदिन बढ़ता जा रहा है।" कभी कभी तो श्रावक साधुओं को यह कहते सुने गये हैं "हम आपका व्याख्यान सुन लेते हैं, धर्म-ध्यान कर लेते हैं, और भी जो आप आज्ञा देते हैं उसका अनुसरण करते हैं। यह तो हमारा अन्तरंग मामला है, इसमें हस्तक्षेप करने आप शोभा नहीं देते।" यदि यही भावना है तो गुरुओं के उपदेश का क्या अर्थ हुआ ? यह तो गुरुओं के प्रति उपेक्षाभाव की अभिव्यक्ति है। धर्म की अवहेलना है। आगम का कथन है कि क्षमा का धर्म सबसे बड़ा है।

"खन्तिसूरा अरिहन्ता"

—ठाण सुत्त, ४/३/३१३

अर्थात्—अरिहन्त क्षमा में शूरवीर होते हैं। जिन अरिहन्तों की हम शरण लेते हैं उन्होंने ही क्षमा को सर्वोत्कृष्ट धर्म माना है। क्षमा-धर्म को न अपना कर हम अरिहन्तों के वचनों की अवहेलना नहीं तो और क्या करते हैं ? अरिहन्तों को हम देव मानते हैं, निर्ग्रन्थों को गुरु मानते हैं, अरिहन्तों द्वारा उपदिष्ट धर्म को स्वीकार करते हैं किन्तु व्यक्तिगत मामले में देव, गुरु और धर्म की आज्ञा को हस्तक्षेप मानते हैं तो हमारा देव, गुरु, धर्म के प्रति श्रद्धान किस भूमिका पर आश्रित है, इस पर आप स्वयं विचार कर देखें। हमारा यह दोहरा दृष्टिकोण निश्चय ही मिथ्यात्व का प्रतीक है। फिर आप कैसे कह सकते हैं कि हम मिथ्यात्व छोड़ना चाहते हैं। सम्यक्त्व की भावना का स्थान आपके हृदय में कहाँ रह गया ? आपकी अपने देव, गुरु और धर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धा है, इस बात को भी कैसे स्वीकार किया जा सकता है ?

ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि अनेक भवों में मनुष्य जन्म पाकर परिग्रह के लिए, परिवार के लिए और अन्यान्य सांसारिक वस्तुओं के लिए आज तक हम जो कार्य करते आये हैं वे ही यदि इस जन्म में भी करते रहेंगे तो हम मानव जीवन को सफल नहीं बना सकते। यह भी अन्य भवों के समान व्यर्थ चला जायेगा। मारवाड़ी भाषा की उक्ति : 'जाली रे लेखे गया' इसी सत्य की पुष्टि करती है। कुछ लोगों का यह कथन कि 'इतना तो बीत गया अब क्या हो सकता है' ठीक नहीं है। मनुष्य जब भी चेत जाय, सावधान हो जाये, वहीं से अपने सुन्दर जीवन का आरम्भ कर सकता है।

"जब जागे तभी सवेरा"

की उक्ति को अपने जीवन में उतारना चाहिए।

जैन-भवन, डेह (नागौर) ●●● 10 जुलाई, 1979

परमाणु हैं और अनन्तानन्त वर्गों की एक वर्गणा होती है, ऐसी अनेक वर्गणाएँ हैं। कर्म-वर्गणाएँ आत्मा के साथ आकर चिपक जाती हैं। किसी एक स्थान विशेष पर कर्म वर्गणाएँ संघनी हों और दूसरा स्थान रिक्त रह जाता हो, ऐसी बात नहीं है।

यह संसार-समुद्र बहुत विशाल है। इसका हिसाब या विवरण सुनने से मस्तिष्क चक्कर खाने लगता है। तीन करोड़, इक्यासी लाख, नौ हजार, सात सौ सत्तर मन वजन का एक लोहे का गोला ऊपर से छोड़ा जावे और वह छह मास, छह दिन, छह पहर, छह घड़ी, और छह पल परिमाण समय में ऊपर से नीचे आता हुआ जितना क्षेत्र तय करे, उस क्षेत्र का नाम है—'राजू'। यह लोक ऊपर से नीचे तक चौदह राजू परिमाण है। लोक की चौड़ाई सब तरफ से एक जैसी नहीं है। इस लोक के तल भाग का वृत्त सात राजू परिमाण है। वह ज्यों-ज्यों ऊपर जाता है, त्यों त्यों सकुचित होता जाता है। तल भाग से एक-एक आकाश प्रदेश न्यून होता जाता है। एक असंख्य आकाश-प्रदेशों के ऊपर के अलग भाग का वृत्त सात राजू से असंख्य प्रदेश न्यून हो जाता है। 'आकाश-प्रदेश' जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। यह क्षेत्र के सूक्ष्मतम माप का सूचक है। इस प्रकार एक-एक आकाश-प्रदेश कम होते-होते जहाँ हम बैठे हैं वहाँ अर्थात् मध्यलोक में एक राजू परिमाण वृत्त रह जाता है। सात राजू से कुछ अधिक भाग हमारे नीचे है। लोक का आकार एक पुरुष के समान बताया गया है। कमर पर हाथ रखकर, पैर फैलाकर खड़े हुए मनुष्य के समान इस लोक का आकार है। नाभि की जगह मनुष्य-लोक है। ४५ लाख योजन के क्षेत्र में मनुष्य रहते हैं। इसमें अढ़ाई द्वीप हैं— जम्बूद्वीप, धातकीखण्डद्वीप और अर्धपुष्कर द्वीप। एक राजू के इस क्षेत्र में असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। सात राजू से कुछ कम अपने ऊपर का भाग है जिसमें सर्वप्रथम ज्योतिश्चक्र है जो सूर्य, चन्द्र और तारों के रूप में विद्यमान है। उसके बाद बारह देवलोक हैं, नौ ग्रैवेयक हैं और पाँच अनुत्तर विमान हैं। तत्पश्चात् सिद्ध-शिला है जहाँ मुक्तात्माएं निवास करती हैं। मनुष्य-लोक के ऊपर का भाग पुनः शनैः-शनैः विस्तृत होता जाता है। जहाँ पर पाँचवाँ देवलोक स्थित है, वहाँ परलोक का वृत्त पाँच राजू परिमाण हो जाता है। पाँचवें देवलोक के ऊपर लोक फिर सकुचित होने लगता है। लोक के सर्वोपरि भाग का वृत्त एक राजू परिमाण माना जाता है। इसी लोकाग्रभाग में सिद्धशिला की स्थिति है।

इस लम्बे चौड़े संसार-समुद्र में अनन्तानन्त कार्मण वर्गणाएँ हैं। कोई भी आत्मा कहीं पर भी जो-जो अच्छे-बुरे काम करती है, तदनुसार उसके साथ कार्मण वर्गणाएं चिपक जाया करती हैं। ये कार्मण वर्गणाएँ पानी के समान हैं और हम पनडुब्बी के समान हैं। इस पनडुब्बी में एक-दो छेद नहीं किन्तु चलनी

आत्मरक्षण में आत्मा कर्मबंधनों से बची रह सकती है। उन्होंने हमारे लिए व्यवस्था तो बना दी है, उसका पालन करना न करना यह हमारे ऊपर निर्भर है। भोजन बनाने वाले ने भोजन बनाकर तैयार कर दिया, परोसने वाले ने परोस दिया, भोजन लाकर सामने रख दिया, अब ग्रास तोड़कर मुंह में डालना और उसे गले उतारना तो हमारा काम है। शास्त्रकारों ने सारे विश्व का विवरण प्रस्तुत कर दिया है और यह स्पष्ट कर दिया है कि आत्मा को किस प्रकार अपनी अज्ञानता के कारण कर्मों के भार से बोझिल बनाना पड़ रहा है फिर भी हम न चेतें और अपनी आत्मा को अनियंत्रित रखें तो इसमें हमारा ही दोष माना जायेगा। इस प्रसंग पर एक उदाहरण याद आ गया है

एक नगर था। आधी रात का समय था, सब सो रहे थे किन्तु चोर जाग रहा था। किसी कवि ने कहा भी है :

> "पहले पोहरे सब कोई जागे, दूजे पोहरे भोगी।
> तीजे पोहरे तस्कर जागे, चौथे पोहरे योगी॥"

रात्रि के पहले पहर में तो सभी लोग जागते होते हैं किन्तु भोगी तो दूसरे पहर में भी जागता है। तीसरा पहर चोर के लिए अनुकूल पड़ता है। उस समय वह चोरी का अवसर ढूंढता रहता है। चोरी करने के लिए वह प्रायः इसी प्रहर में जगा रहता है। रात के चौथे पहर में योगी जागता है।

निकल पड़ा एक चोर चोरी करने के लिए। उसने एक बहुत बड़ी हवेली में प्रवेश किया। यह हवेली ठाकुर साहब की थी। बड़े धनवान् थे ठाकुर साहब। खजाना बड़े सुरक्षित स्थान में था। वहां चोर की पहुंच सम्भव नहीं थी। ठाकुर साहब स्वयं भी खजाने के पास वाले कक्ष में ही सो रहे थे। प्रयत्न करने पर भी जब चोर के कुछ भी हाथ न आया तो चोर ने खूंटी पर लटकती हुई ठाकुर साहब की तलवार को चुरा लिया और चलता बना। तलवार भी इसलिए चुरानी पड़ी कि चोर को खाली हाथ जाना उचित नहीं लगा। उसने सोचा, चोरी के श्रीगणेश में ही कुछ हाथ न लगा तो आगे कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। ठाकुर साहब की नींद खुली तो देखा खूंटी से तलवार गायब है। उन्होंने यहां-वहां, अन्दर-बाहर सर्वत्र देखा। पृथ्वी पर पड़े पैरों के चिह्नों से वे जान गये कि कोई चोर घुस गया था जो तलवार लेकर चम्पत हो गया। पुलिस में रिपोर्ट इसलिए दर्ज नहीं कराई कि दरबारी लोग कहीं यह न कहने लग जायें कि 'जो अपनी तलवार की भी रक्षा नहीं कर सकता वह जनता की रक्षा क्या करेगा?' ठाकुर साहब के पास तो अनेक तलवारें थीं, एक चली गई तो उन्होंने दूसरी निकाल ली।

[illegible] यह बात सही नहीं है। [illegible]
दृष्टिकोण से जिस वस्तु को आप महत्त्व नहीं दे [illegible]
विचारधारा में वर्तमान सभी गुण वस्तु के प्रति [illegible] उत्पन्न हो जाता।
आप स्वयं यह अनुभव करने लगेंगे कि आपकी [illegible] और [illegible] के साथ
[illegible] होना चाहिए, जिसकी कमी है। आप इस कमी को पूरा करेंगे। जिस दिन
[illegible] है, आप [illegible] में वीतरागता की ओर बढ़ने लगेंगे। जिस दिन विचार,
प्रचार और आचार [illegible] नहीं हो जायेंगे उसी दिन हमारी [illegible]
आयेगी। आत्मा के साथ फिर किसी [illegible] नहीं रह सकता।
इस अवस्था में पहुँची हुई आत्मा ही परमात्मा कहलाती है। इसके लिए सर्व
प्रथम सम्यक्त्व की आवश्यकता है। सम्यक्त्व के बिना [illegible]
होना असंभव है। सम्यक्त्व का अर्थ है सम्यक् दृष्टिकोण। [illegible]
वस्तुएँ हैं। उन सब वस्तुओं से भले ही हम [illegible] रूप से [illegible]
सकें किन्तु यदि उन वस्तुओं के प्रति हमारा दृष्टिकोण सही है, यथार्थ है, तो हम
निश्चित रूप से उन वस्तुओं द्वारा प्रभावित हो सकते। जिस वस्तु का जैसा
स्वरूप है उसको उसी रूप में जब हम समझने लगेंगे, तभी हमारा वस्तुओं के
साथ सही सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा। आदरणीय वस्तुओं को ग्रहण करके हम
लाभान्वित हो जायेंगे तथा त्याज्य वस्तुओं से बचकर हम लाभ उठा सकेंगे।
यह सब तभी संभव है जब सम्यक्त्व आ जाये। सम्यक्त्व जब आता है तो
धीरे-धीरे मनुष्य की जानकारी, मान्यता और आचरण, सभी ठीक हो जाया
करते हैं। इसी बात को शास्त्रकार निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त करते हैं :

"नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं"

अर्थात्—
सम्यक्त्व के बिना चारित्र का क्या महत्त्व है? चारित्र में सम्यक्त्व का अस्तित्व अनिवार्य है। दर्शन के साथ तो चारित्र की 'भजना' है और चारित्र के साथ सम्यक्त्व की 'नियमा' है। सम्यक्त्व और चारित्र या तो ये दोनों एक साथ रहते हैं या फिर पहले सम्यक्त्व और बाद में चारित्र का स्थान आता है। शास्त्रकारों ने इस विषय पर बड़ा गम्भीर चिन्तन किया है। जब वीतरागता के परिणामस्वरूप निष्पक्षता की भावना हमारी आत्मा में आ जाती है तो हमारे अन्दर सभी वस्तुओं को उनके वास्तविक स्वरूप में देखने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। सब वस्तुओं को उनके वास्तविक स्वरूप में देखना ही शाश्वत सुखों की प्रारंभिक सोपान है।

जैन-भवन, डेह (नागोर)

१२ जुलाई, १९७६

सिद्धि के बाद भी बनी रहती है अर्थात् उसका अन्त कभी नहीं होता। चौथी स्थिति है– 'अनादि अनन्त' की। इसमें न तो प्रारम्भ ही होता है और न कभी समाप्ति ही। आत्मा या जीव का न तो कभी प्रारम्भ ही होता है एवं न ही यह जीव कभी समाप्त ही होता है। इस प्रकार जीव चिरन्तन तत्त्व होने के कारण अनादि भी है और अनन्त भी है।

जीव स्वयं तो अनादि और अनन्त है किन्तु मनुष्य रूप में या अन्य किसी योनि में शरीरधारी के रूप में वह द्रव्य का एक पर्याय है। यह पर्याय तो उत्पन्न होता है और नष्ट भी होता है। मनुष्यादि पर्याय तो आत्मा रूपी अनादि-अनन्त महासागर के अन्दर से उद्वेलित लहरों के समान है। माता के गर्भ में आते ही मानव-पर्याय प्रारम्भ हो जाता है। गर्भ में आते ही, मात्र अन्त-र्मुहूर्त में गर्भस्थ को छह पर्याप्तियाँ प्राप्त हो जाती है और उसका उत्तरोत्तर विकास प्रारम्भ हो जाता है।

इस तरह आत्मा की अपेक्षा न तो जीव या आत्मा अनादि और अनन्त है किन्तु एक भव की अपेक्षा से यदि उसे देखा जाये वह सादि भी है और सान्त भी। छद्मस्थ की अपेक्षा से वह अनादि और सान्त है, और केवल ज्ञानी की अपेक्षा से वह सादि और अनन्त सिद्ध होता है। शाश्वत आत्मा का मुक्तिस्थान भी शाश्वत है और उसका अनन्त सुख भी शाश्वत है।

सिद्धावस्था का भी कोई आदि और अन्त नहीं है। सिद्ध के रूप में शाश्वत सुख की यदि कोई आदि है तो उसे एक आत्मा की अपेक्षा से ही समझना चाहिए। व्यक्तिगत बात होने के कारण इस बात को प्रामाणिक रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता। सैद्धान्तिक रूप भी इसे प्रदान नहीं किया जा सकता। सिद्धान्तों के सामने व्यक्ति का मूल्य नगण्य है। जो सिद्ध हो जावे अर्थात् तर्क की कसौटी पर खरा उतरे वह सिद्धान्त होता है। आत्मा के स्वाभाविक रूप की पहचान में जो सहायक सिद्ध होते हैं, उन्हें सिद्धान्त कहते हैं। वे सिद्धान्त भी परिवर्तनहीन एवं शाश्वत होते हैं। परिवर्तन परिस्थितियों में हुआ करता है, सिद्धान्तों में नहीं। उदाहरण के लिए "पानी से प्यास की तृप्ति त्रिकाल सत्य है।" जो व्यक्ति अवसर देखकर अपने रूप बदलता रहता है, वह सिद्धान्तहीन माना जाता है, उसका विश्वास नहीं किया जा सकता। जो भयानक परि-स्थितियों में पड़कर भी अपने सैद्धान्तिक पथ से टसमस नहीं होता वही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की रक्षा कर सकता है और प्रशंसा का पात्र बन सकता है।

यहाँ सिद्धान्त शब्द से हमारा संकेत वीतराग की वाणी से प्रस्फुरित सिद्धान्तों से है। जो व्यक्ति उनको भलीभाँति समझ लेता है उसके मन में उनके प्रति अटूट श्रद्धा पैदा हो जाती है। उस अटूट श्रद्धा के कारण वह किसी के भी तर्क-कुतर्कों के प्रभाव में आकर अपने सिद्धान्तों से डगमगा नहीं सकता। वीतराग

बढ़ जाता है। यदि मनुष्य के पास धन-सम्पत्ति बहुत ही बड़ी संख्या में एकत्रित हो जाय तो वह अहंकार के कारण अपनी सुधबुध ही भूल बैठता है।

हमारा कहने का अभिप्राय यह है कि वह वस्तु जो 'पर' है या 'अन्य' है उससे हमें सुख की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। सुख की प्राप्ति तो 'स्व' के स्वरूप को समझने में है। जो पराया है वह हमारे अज्ञान के कारण बाह्यरूप से हमें अपना प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में तो वह केवल साधन मात्र है। वह साध्य नहीं है। साध्य की प्राप्ति तो साधनरूप शरीर के त्याग से ही सम्भव है। शास्त्र की दृष्टि से शरीर "रस्सी के दो सिरों की जुड़ी हुई एक गांठ है।" माता-पिता की गांठ सन्तान के रूप में प्रकट हुआ करती है। आत्मा अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिए इस शरीर को धारण करता है। उस आत्मा का नाम ही 'स्व' है। शरीर औदारिक है, कुछ लोग औदारिक का अर्थ 'उधार लिया हुआ शरीर' करते है जो सही नहीं है। वास्तव में 'औदारिक' शब्द उदार से इक् प्रत्यय लगाकर बनाया हुआ है। उदार का अर्थ है श्रेष्ठ या विशाल। शरीर पांच प्रकार के माने गये हैं। औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। इन पांच प्रकार के शरीरों में औदारिक ही श्रेष्ठ है, श्रेष्ठ इसलिए कि इस औदारिक शरीर के माध्यम से ही जीव को मोक्ष प्राप्त होता है। कठिन से कठिन परिस्थितियों का सामना करना, अनेक प्रकार के परीषहों को सहन करना और घोर तपश्चर्या करना इसी शरीर का काम है। इसकी विशालता में तो कोई सन्देह है ही नहीं। एक हजार योजन गहरे समुद्र में उत्पन्न हुआ एक हजार योजन लम्बा कमल समुद्र की सतह पर होता है और उसकी जड़ समुद्रतल में रहती है। इस प्रकार ऐसे कमलों की कुल अवगाहना एक हजार योजन से भी कुछ अधिक हो जाती है। इनका जीव वनस्पतिकायिक होता है और वनस्पति काय का शरीर औदारिक होता ही है। इस प्रकार के महान् शरीर का धारक शुद्धात्मा भी शरीर को पराया तत्त्व ही समझता है, अपना नहीं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि शरीर पराई वस्तु है। पराई वस्तु सदा दुःख का कारण होती है। मनुष्य का विषम स्वास्थ्य भी कई बार दुःख का कारण बन जाया करता है। कोई वस्तु भूतकाल में दुःख का कारण थी, कोई वर्तमान में दुःख का कारण है और कोई भविष्य में दुःख का कारण बनेगी। ये सारी सुख-दुःख की अनुभूतियां मन पर निर्भर करती हैं। इसीलिए लोक में यह कहावत प्रसिद्ध है, "मन के हारे हार है और मन के जीते जीत।"

मन जब तक सांसारिक पदार्थों में काल्पनिक और क्षणिक सुख के लिए आसक्त रहेगा तब तक आत्मकल्याण नहीं कर सकता। बिना आत्मकल्याण के अनन्त सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं है। संसार में जितने भी सुख हैं वे मात्र

स्त्री-पुरुष आदि सभी अपने अपने स्थानों में एकाग्रमन बैठे हुए थे। भगवान् परिग्रह के प्रसंग का वर्णन कर रहे थे। महारम्भ, महापरिग्रह, नरक का कारण है। चार कारणों से जीव नरक का आयुष्य बांधता है·

(१) महा आरम्भयाए (२) महापरिग्गहाए, (३) कुणिमाहारेणं (४) पंचिंदियवहेणं

-ठाणं ४

महारम्भ, महापरिग्रह मांसाहार और पंचेन्द्रिय-प्राणी का वध—इन चार कारणों से जीव नरक गति का आयुष्य बांधता है। सुनने वालों में सब प्रकार की विचारधारा के व्यक्ति थे। किसी के मन में कुछ, किसी के मन में कुछ, सब अपने अपने विचारों में मस्त थे। सहसा एक स्वर्णकार खड़ा हुआ। प्रश्न किया "भगवन्! भरत चक्रवर्ती कितने भवों के बाद मोक्ष जायेंगे?" उसने बड़े व्यंगात्मक ढंग से पूछा था। भरत चक्रवर्ती लोकदृष्टि में महारम्भी और महापरिग्रही थे और थे छह खण्ड के वैभव के अधिपति। इनसे बढ़कर कौन परिग्रही हो सकता था? राज्य में स्थान स्थान पर आरम्भ और उद्योग की योजनायें चल रही थीं। तब कौन से नरक का अधिकारी होगा वह? कितने समय तक उसे नरक में रहना पड़ेगा? ये बातें साफ साफ प्रश्नकर्त्ता ने नहीं पूछी। भगवान् पूछने वाले की भावना से अनभिज्ञ नहीं थे। वे तो विशाल ज्ञान के धारक थे। उपस्थित लोग सोच रहे थे, "बड़ा ही पेचीदा प्रश्न पूछा है, इसने।" भगवान् जब महारम्भ और महापरिग्रह का विवेचन कर रहे थे, उसी समय यह प्रश्न पूछा गया। भगवान ने प्रत्युत्तर में कहा·'भरत चक्रवर्ती इसी भव में मोक्ष में जायेगा। यह तो उसका अन्तिम भव है। भरत इसी भव में केवलदर्शन और केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष चला जायेगा।" भगवान् का उत्तर सुनकर, स्वर्णकार यथा-स्थान बैठ गया किन्तु उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हुआ। पास में बैठे लोगों से काना-फूसी के रूप में कहने लगा, "क्यों न जायें मोक्ष, पिताजी मोक्ष देने वाले और बेटा मोक्ष जाने वाला। ऐसा अवसर भी क्या बार बार मिल सकता है?" "नानाणा में ब्याव और मां पुरसणवाली" फिर भोजन में कमी क्यों? धीरे-धीरे यह बात सारी सभा में फैल गई। सभा समाप्त होते ही लोग अपने-अपने घरों को चल दिये। सभा की स्वर्णकार की बात सारी मयोध्यानगरी में विद्युत् गति के समान फैल गई। यत्र-तत्र जहां देखो वहां यही चर्चा "पिता मोक्ष देने वाला और पुत्र मोक्ष जाने वाला" चल रही थी। इस चर्चा की सारी जानकारी चक्रवर्ती भरत को भी हो गई थी। अच्छा राजा अपने तन्त्र को चलाने के लिए प्रजा की पूरी जानकारी रखा करता है।

सायंकाल का अन्धकार अभी-अभी ही फैलना प्रारम्भ हुआ था। लोग

वह पूर्णतया खो गया कटोरे की सार-सम्भाल में। चार शस्त्रधारी व्यक्ति भी उसके साथ-साथ चल रहे थे, राजा के इस निर्देश के साथ कि 'तेल की एक बूंद भी गिरने पर उसका सिर कलम कर दिया जावे।' उसके कान में यह भी कह दिया गया था कि एक बूंद क्या, यदि सारा कटोरा भी गिर जावे तो स्वर्णकार को कोई भी दण्ड नहीं देना है केवल सचेत रखना है। मध्यम और अधम प्रकृति के लोग बिना भय के नियन्त्रण में नहीं रहा करते। उत्तम प्रकृति के व्यक्तियों के लिए यह सब बन्धन की आवश्यकता ही नहीं होती, वे तो स्वभाव से ही केन्द्रित होते हैं।

एक ओर तो स्वर्णकार को तेल का कटोरा लेकर अयोध्या नगरी के गली-कूचों में घूमने का आदेश दिया गया और दूसरी ओर सारी नगरी में यह घोषणा करवा दी गई कि सब कलाकार अपनी अपनी कलाओं का प्रदर्शन करें।

जगह-जगह नगर के प्रमुख मार्गों पर वेश्यायें नृत्य करने लगीं, चतुष्पथों पर पहलवान कुश्ती के अखाड़े में कूद पड़े और इन्द्रजाल के ज्ञाता अनेक प्रकार के चमत्कार दिखाने लगे। जहाँ देखो वहीं आकर्षण, कोई भी अयोध्या नगरी का स्थान आकर्षणविहीन नहीं रहा। ये सारी आकर्षण की क्रियाएं मन को विचलित करने के लिए की गई थीं। स्वर्णकार सारी अयोध्या नगरी में चक्कर लगाकर राजदरबार में उपस्थित हो गया और कहीं तेल की एक बूंद भी कटोरे से पृथ्वी पर नहीं गिराई। शस्त्रधारी सिपाही भी उसके साथ लौट आये। भरत ने पूछा : "क्यों स्वर्णकार ! सारी अयोध्या नगरी में घूम आये ?" उत्तर स्वीकारात्मक मिला। रक्षकों से पूछा "क्यों, मार्ग में कोई तेल की बूंद तो नहीं गिरी ?"

"अन्नदाता गिरती, तो यह जीवित कैसे लौटता ?"

भरत ने पूछा : "क्यों स्वर्णकार ! किस चौराहे पर क्या-क्या देखा ? कौन-सी वेश्या क्या गा रही थी ? कौन सा बाजा बज रहा था ?"

"अन्नदाता ! मेरे लिए तो सारी कलायें एक मात्र तेल के कटोरे में केन्द्रित थीं। मुझे तो कुछ भी पता नहीं कहाँ क्या हो रहा था।"

स्वर्णकार ने नम्रताभरे शब्दों में उत्तर दिया।

भरत ने फिर पूछा, "कुछ समझे या नहीं।" "मैं तो केवल यही समझा हूँ कि मैंने व्याख्यान में आपके विरुद्ध भगवान् से प्रश्न किया था और आपने द्वेषवश मुझे मारने का षड्यन्त्र रचा। लेकिन मेरा आयुष्य प्रबल था, इसलिए मैं बच गया।" स्वर्णकार ने निर्भीकता से उत्तर दिया।

"यही समझे तो क्या समझे ? तुम्हें मारने के लिए भला मुझे षड्यन्त्र करने की क्या आवश्यकता थी। राज के विरोधी को और तीर्थंकर की वाणी की अवज्ञा करने वाले को तो तुरन्त मौत के घाट उतारा जा सकता है। उसके लिए

१

कर्ममुक्त बनो, पुण्यवान् नहीं

सुख दो प्रकार के होते हैं शाश्वत और अशाश्वत। वास्तव में अशाश्वत सुख को तो सुख कहना ही नहीं चाहिए। अशाश्वत दुःख होता है और शाश्वत सुख। लौकिक भाषा में अशाश्वत का अर्थ क्षणिक सुख के लिए किया जाता है। सरल शब्दों में, अल्प समय के लिए रहने वाला सुख अशाश्वत सुख कहलाता है और सदा रहने वाला सुख शाश्वत होता है। ज्ञानी पुरुषों के अनुसार शाश्वत सुख ही वास्तव में सुख होता है। अल्प समय का सुख तो हमारा अपना न होकर, शुभकर्मजन्य अनुभूति होती है। शुभ के साथ कर्म का प्रयोग ही इस बात का सूचक है कि वह सुखदायी नहीं है। ऐसा कर्म जो हमारे मन को व्याकुल रखे, अशान्त रखे और अस्थिर रखे उसे अशुभ कर्म या पापकर्म कहते हैं। जिसको हम पुण्यकर्म कहते हैं, उसके उदय के समय तक, हमारा मन प्रसन्न रहता है, परिस्थितियों की अनुकूलता रहती है और सब प्रकार सुखसामग्री हमें प्राप्त होती रहती है। कुछ मनीषियों के मत में इसे अशाश्वत सुख कहा जाता है, वास्तव में तत्त्वज्ञानी पुरुष शुभ कर्मों से मिलने वाले सुख को सुख नहीं मानते। उनका कथन है कि अशुभ कर्मों से मिलने वाले दुःख यदि प्रकट हैं तो शुभ कर्मों से मिलने वाले दुःख अप्रकट हैं। अशुभ प्रत्यक्ष और शुभ अप्रत्यक्ष शत्रु है। अशुभ से हमें सदा सावधान रहने की प्रेरणा मिलती है। सतत जागृत रहने की चेतावनी मिलती है लेकिन पुण्यकर्म तो अप्रकट शत्रु है, वह अधिक खतरनाक है। प्रत्यक्ष में वह मित्र के समान है अप्रत्यक्ष में वह शत्रु है। प्रत्यक्ष शत्रु इतना बुरा नहीं होता जितना अप्रत्यक्ष शत्रु। प्रत्यक्ष शत्रु के क्रिया-कलाप से तो हम परिचित होते हैं इसलिए उसकी गतिविधियों से सावधान रहते हैं किन्तु गुप्त शत्रु को तो हमारे लिए पहचानना भी कठिन होता है। वह ऊपर से मित्र जैसा मधुर व्यवहार हमारे से रखता है किन्तु अन्दर से हमें बड़ी से बड़ी हानि पहुंचाने के लिए ताक लगाये बैठा रहता है। उसके बाह्य आत्मीय व्यवहार से तो कभी-कभी हम इतने आकर्षित हो जाते हैं कि हम उसे अपना अभिन्न समझने लगते हैं। अपना उसे शुभचिन्तक समझने लगते हैं। वह हमारा सब

मालमुफ्त उड़ाकर बाबा जी बन जायेंगे, पास में फूटी कौड़ी भी नहीं रह जायेगी, तब कोढ़ का हमारे से क्या ले लेगा ? इस प्रकार शुभ कर्म का उदय चलता रहता है और हम सुख भोगते भोगते उत्तरोत्तर पतन में पड़ते जाते हैं । शुभ कर्म का उदय समाप्त होते ही, अशुभ कर्म सामने आता है । यह स्थिति ऐसी हो जाती है जैसे किसी को शहद से लिपटी हुई तलवार मिल गई हो और वह मूढ़ पकड़कर तलवार की धार पर लगे शहद को चाटना आरम्भ कर दे । चाटते-चाटते उसे यह ध्यान भी न रहे कि तलवार मीठी होने के साथ-साथ तीखी भी है । निःसन्देह, वह तलवार शहद की मिठास का सुख देती है किन्तु साथ साथ जीभ को भी तो काट देती है । मुँह लहूलुहान हो जाता है । ठीक इसी प्रकार व्यक्ति अज्ञानवश विषयों के सुख में डूबा हुआ अपने रक्त का ही शोषण करता है । उसको विषय-लिप्तता के कारण पता भी नहीं चल पाता कि उसके जीवन का कितना ह्रास हो गया है । एक अन्य उदाहरण से यह बात और स्पष्ट हो जायेगी । कोई रोगी डाक्टर के पास जाता है । आपरेशन–शल्यचिकित्सा का केस है । डाक्टर भी जहाँ आपरेशन करना होता है वहाँ मरफिया का इंजेक्शन लगा देता है । स्थान या अंग शून्य हो जाता है । डाक्टर आपरेशन कर देता है और रोगी को अंग की शून्यता के कारण पता भी नहीं चल पाता कि आपरेशन कर दिया गया है या नहीं । ठीक इसी प्रकार पुण्य के उदयकाल में अज्ञान के इंजेक्शन के कारण हम अपने-आपको इतना भूल जाते हैं कि हमें पता भी नहीं चल पाता कि हमारे जीवन का कितना ह्रास हो रहा है । आध्यात्मिक क्षति पहुँच रही है । अपनी अंतरंग शक्ति के ह्रास का हमें तनिक भी पता नहीं चल पाता । पता न चलने का कारण हमारी असावधानी है । इसी असावधानी के कारण हम अशाश्वत सुखों को सुख मान लेते हैं । यह पहले संकेत किया जा चुका है कि ये सुख पुण्यकर्म की अधीनता से ही हमें प्राप्त होते हैं । अधीनता तो अधीनता ही रहती है, वह स्वाधीनता कैसे बन सकती है ? आत्मिक सुख अधीनता-जन्य सुख नहीं होते । पुण्य-जन्य सुख आत्मा के निजी सुख नहीं होते । यदि ऐसा संभव होता तो वे उदयावस्था के समाप्त होने के बाद भी आत्मा के साथ रहते । जब तक पुण्य रहता है । सुख रहता है, पुण्य के समाप्त होते ही सुख भी समाप्त हो जाता है । सारांश यह है कि पुण्य के अधीन मिलने वाले सुख में स्वाधीनता नहीं है और पराधीनता में सुख का सद्भाव संभव नहीं है । किसी उर्दू के शायर ने ठीक ही कहा है :

> मिले खुश्क रोटी जो आज़ाद रह कर।
> तो खौफ़ और ज़िल्लत के हलवे से बेहतर।।

ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि मोक्ष में आत्मा के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु आत्मा के साथ नहीं रहती। सुख वहाँ अनन्त है किन्तु सांसारिक सुखों से वे सर्वथा भिन्न हैं। संसार के सुख तो नाममात्र के हैं। वास्तव में तो यहाँ जो भी है सब दुःख रूप ही है। ऐसी स्थिति में यदि कोई यह कहे कि दुःख को कोई सुख मानकर कैसे चल सकता है, उसका समाधान निम्नलिखित उदाहरण से मिल जायेगा।

एक व्यक्ति जो दाद-खुजली की बीमारी का शिकार था, रेगिस्तान में चला जा रहा था। वहाँ तो बालू-रेत के सिवा और कुछ भी नहीं था। गर्मी में तो खुजली और भी तीव्र रूप धारण कर लेती है। खुजली उठ रही थी, बेचारा बड़ा व्याकुल था, बड़ा परेशान था। बार-बार खुजला रहा था फिर भी चैन नहीं मिल रही थी। खुजलाने के लिए खुरदरी वस्तु की आवश्यकता होती है, कोमल वस्तु से खुजली शान्त नहीं हुआ करती। कई रोगी इसके लिए पत्थर का उपयोग भी करते हैं और अन्य वस्तियां घास को पत्थर से भी बेहतर मानते हैं। खुजली का रोगी और खुजली दोनों चल रहे थे। अचानक ही एक घुड़सवार वहाँ आ निकला। घोड़े के लिए उसने थोड़ी-सी घास भी अपने साथ ले रखी थी। रोगी ने उससे कहा, "जरा रुकना भाई, एक घास का तिनका दे दो जिससे खुजली करके शान्ति प्राप्त कर सकूँ।" घुड़सवार सामान्य व्यक्ति न होकर एक सुयोग्य वैद्य था। उसने कहा, "अरे मूर्ख! तिनके से क्या होगा, मैं तुम्हें औषधि देता हूँ।" "उस औषधि से क्या होगा?" खुजली के रोगी ने पूछा। "उससे तुम सदा के लिए इस भयानक रोग से मुक्त हो जाओगे। खुजली सदा के लिए मिट जायेगी।" "मुझे नहीं चाहिए ऐसी औषधि। यदि खुजली सदा के लिए मिट गई तो मुझे खुजलाने का आनन्द कैसे मिलेगा? खुजलाने के आनन्द की अनुभूति को मैं ही जानता हूँ, तुम क्या जानो!" रोगी ने उत्तर दिया।

संसार के प्रायः सभी जीव इसी स्वभाव के हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी से कहे कि "चलो, मैं तुम्हें ऐसी वस्तु खाने को देता हूँ जिससे तुम्हें भूख ही न लगे", तो वह उत्तर में यही कहेगा कि "मुझे ऐसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है जो मेरी भूख को मिटा दे। मुझे ऐसी सार्वकालिक रहने वाली तृप्ति की आवश्यकता नहीं है। भूख लगने से अनेक प्रकार के षट्रस भोजनों को खाने से जो आनन्द मिलता है वह फिर कहाँ से मिलेगा।"

यह है सांसारिक जीवों की सुख के लिए लालसा। प्रत्येक सुख के पीछे मानव को भ्रान्ति में डालने वाला बन्धन छिपा हुआ है। इसीलिए ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि शुभ कर्मोदय से जो भी सुख मिलता है वह दुःख रूप है। उससे सर्वथा दूर रहने की आवश्यकता है। आप बत्तीस के बत्तीस शास्त्रों का

१०

तीन मित्रों में सच्चा कौन ?

संसार के सुख अशाश्वत हैं, भ्रान्तिमय हैं, इसका जिक्र हमने कल के व्याख्यान में किया था। संसार में सुख का तो अभाव ही है। दूसरे शब्दों में सुख केवल आभास मात्र है। दुःख के दो रूप हैं : (१) प्रकट दुःख और (२) गुप्त दुःख। जिनका हमें दुःख के रूप में प्रत्यक्ष भान है, वे तो प्रकट दुःख हैं, उनको मिटाने के लिए हम प्रयत्नशील भी रहते हैं, परन्तु कुछ दुःख ऐसे भी हैं जो प्रत्यक्ष रूप में हमें सुख रूप प्रतीत होते हैं किन्तु वास्तव में वे गुप्त रूप से दुःख होते हैं। सांसारिक लोग जिन वस्तुओं को सुख का कारण मानते हैं, वास्तव में उनमें सुख का अभाव है या आभासमात्र है।

वास्तविक चिन्तन के परिणामस्वरूप ज्ञात होता है कि संसार में न तो कुछ सुख ही है और न ही कुछ दुःख ही। सुख और दुःख दोनों मन की कल्पित भावनाएँ हैं। दोनों नश्वर हैं। कविवर नरेन्द्र के शब्दों में :

सुख भी नश्वर, दुःख भी नश्वर
यद्यपि सुख-दुःख सब के साथी,
कौन घुले फिर सोच फिकर में
आज पड़ी क्या है कल क्या थी!

वेश तोड़ सीमाएं अपनी
जोगी नित निर्भय रमता है!

जब तक तन है, आधि-व्याधि है,
जब तक तन-मन, सुख-दुःख घेरे,
तू निर्बल तो क्रीत-भृत्य है,
तू चाहे ये तेरे चेरे!

तू इनसे पानी भरवा, भर
ज्ञानकूप, तुझमें क्षमता है!

सुख-दुख के पिंजर में बंदी
कीर घुन रहा सिर बेचारा,
सुख-दुख के दो तीर चीर कर
बहती नित गंगा की धारा,

तेरा जी चाहे जो बन ले,
तू अपना हरता करता है !

प्रत्यक्ष रूप में संसार के लोग सुख के पीछे पागल होकर भाग रहे हैं और दुःख से दूर पलायन करना चाहते हैं। किसी विद्वान् ने इस भाव को अभिव्यक्ति देते हुए कहा है :

सर्वत्र सर्वस्य सदा प्रवृत्तिः,
दुःखस्य नाशाय सुखस्य हेतोः।
तथापि दुःखं न विनाशमेति,
सुखं न कस्यापि भजेत् चिरत्वम् ॥

अर्थात्—

संसार के प्रायः सभी प्राणियों की सर्वत्र यही भावना रहती है कि उनके दुःख का नाश हो और सुख की उपलब्धि हो। परन्तु ऐसा संभव नहीं है। न तो कभी किसी के दुःख का ही सार्वकालिक विनाश हुआ है और न ही किसी का सुख ही चिरकाल तक स्थायी रहा है।

अब हमें देखना है कि वास्तव में दुःख क्या है और सुख क्या है? यह तो स्पष्ट ही है कि दोनों पारस्परिक विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं। भोगी-रोगी, मित्र-शत्रु, दुष्ट-सज्जन आदि सभी प्रतिपक्षी हैं। परस्पर विरोधी होते हुए जहाँ तक सुख और दुःख का सम्बन्ध है, इन सब की विचारधारा एक-सी है। सब को यही इच्छा रहती है कि उनका दुःख मिट जाये और सुख की प्राप्ति हो। किसी दार्शनिक ने इसी भाव को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है :

सर्वेषां अनुकूलवेदनीयं सुखम्,
प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम् ॥

अर्थात्—

जो अपने अनुकूल हो वह सुख है और जो अपने प्रतिकूल हो वह दुःख है। वास्तव में यही सुख और दुःख की परिभाषा है।

इस विचारधारा से प्रेरित होकर मित्र, स्वजन, हितैषी आदि अपने सुख के साधनों की हम [illegible] सेवा करते हैं और उस सेवा की भावना को उत्त-

गौरव दृढ़ बनाने का प्रयत्न करते हैं। इसके विपरीत जो हमारे शत्रु हैं, हमारे प्रतिपक्षी हैं, हमारे मार्ग में सदा रोड़ा अटकाने वाले हैं, हमारा विरोध करते हैं और हमारी प्रगति में जो रुकावट डालते हैं, उनसे हम सदा दूर रहने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा हम इसलिए करते हैं क्योंकि वे हमारे लिए दुःखरूप हैं या दुःख के कारण हैं। उन शत्रुओं को हम न चाहें, न बुलायें तब भी वे हमें परेशान करने के लिए हमारे पास आते हैं। किसी कवि ने तो शत्रुओं की सत्ता को मानव की धीरता का प्रतीक माना है और कहा है:

> जिनके दस दुश्मन नहीं और सेण नहीं पचास।
> तिनको जननी क्या कियो, भार मुई दस मास॥

अर्थात्—ऐसे व्यक्ति जिनके दस शत्रु नहीं हैं और पचास सेण नहीं है, उनको उनकी माता ने व्यर्थ में ही अपने गर्भ में दस मास तक भार रूप में रखा। सारांश यह कि संसार में चतुर, विवेकशील और विचक्षण व्यक्तियों के लिए एक-दो नहीं किन्तु दसों शत्रुओं के होने पर बल दिया है। केवल पचासों स्वजनों (सेण) का सद्भाव बिना दस दुश्मनों के हमारी उन्नति एवं प्रगति में बाधक ही सिद्ध होगा। क्योंकि बिना दुश्मनों के हम सावधान नहीं रहते, निश्चिन्त रहते हैं। जबकि दुश्मनों से हम सम्भलकर चलेंगे, विवेक से चलेंगे और सावधानी से कदम रखेंगे। शत्रु तो बिना अपराध के भी प्रहार कर देता है। मारवाड़ी भाषा में कहावत है—

"छींकता दण्डे"

अर्थात्—"छींक आ गई तो उसे भी अपराध समझकर दण्ड देने को उद्यत हो जाना।" छींक आ जाना तो कोई अपराध नहीं है किन्तु वह तो शरीर का सहज स्वभाव है, परन्तु शत्रु तो कोई बहाना ढूंढ़ता है। ऐसा होने पर भी नीतिकारों ने शत्रु के अस्तित्व को इसलिए आवश्यक माना है कि शत्रु हमारी बात को चेक करता रहता है। उसके चेक करने से हमें अपनी भूलों का, अपने दोषों का और अपनी लापरवाही का ज्ञान होता रहता है। हम सावधान बने रहते हैं और जागरूक रहते हैं अपने दोषों के प्रति। सामान्य रूप से मनुष्य को अपने दोष नहीं दिखाई दिया करते। दीपक तले अंधेरा ही रहता है। दूसरों के राई जितने दोष भी हमें पहाड़ जैसे दीखते हैं और अपने पहाड़ जैसे दोष भी राई के समान लगते हैं। ऐसी स्थिति में किसी कवि द्वारा शत्रु की आवश्यकता पर बल देना सर्वथा उचित ही प्रतीत होता है। संक्षेप में, हम यही कहेंगे कि सामान्य बुद्धि के धनी ही यह सोचा करते हैं कि उनका मनचाहा काम हो होना चाहिए, जो विशिष्ट बुद्धिवाले हैं वे तो अपने विरो-

धियों के अस्तित्व को भी महत्त्व देते हैं। तभी तो कबीर ने कहा है :

> दुर्जन नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
> बिन साबुन पानी बिना, निर्मल करे सुभाय ॥

ऐकान्तिक सुख भी एक प्रकार की अन्ध श्रद्धा है। जिस प्रकार अपने दोषों के निदर्शन के लिए शत्रु का महत्त्व है, उसी प्रकार संपत्ति के साथ विपत्ति का होना भी परमावश्यक है। विपत्ति आने पर ही तो ज्ञात होता है कि कौन अपना है और कौन पराया है। इसी सत्य की पुष्टि करते हुए रहीम कहते हैं :

> रहिमन विपदा हू भली, जो थोरे दिन होय।
> हित अनहित या जगत में, जानि परत सब कोय ॥

अर्थात्—

जीवन में यदि कुछ समय के लिए विपत्ति भी आ जाये तो उसका भी स्वागत करना चाहिए, क्योंकि विपत्ति में ही 'कौन अपना है और कौन पराया है' इस सत्य की पहचान की जा सकती है।

वैसे तो जब हम सम्पन्न दशा में होते हैं, हमारे पास कोई सत्ता होती है या अधिकार होता है तो सभी हमारे बनना चाहते हैं। अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए लोग दूर से दूर का नाता हमारे साथ जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। हमारी विपन्न दशा में कोई भी हमारे पास फटकना नहीं चाहता। खून का रिश्ता होने पर भी लोग हमारे से कन्नी काटा करते हैं। किसी विपदाग्रस्त व्यक्ति के पूछने पर कि हम उनके क्या लगते हैं; क्या हम उनके भाई हैं? तो यही उत्तर मिलता है :

> भाई-भाई जितनी लाई,
> बाकी छींके पर लटकाई।

विपत्तिकाल में ऐसा ही होता है। सम्बन्ध सगे रिश्तेदारों का भी टूट जाता है, औरों की तो बात ही क्या है?

ज्ञानी पुरुषों का इसलिए कथन है कि चली-चली में और सम्पन्न दशा में हमें अपने और पराये का कुछ भी भेद मालूम नहीं पड़ता। आपत्ति आने पर ही हमें ज्ञात होता है कि वास्तव में संसार में कौन अपना है, कौन पराया है; कौन हमारे सुख-दुःख का साथी है और कौन ऊपर से अपना बनने का ढोंग रच रहा है। आपत्तिकाल में सबकी परीक्षा हो जाती है। अतएव, संसार में सम्पत्ति अवश्य आनी चाहिये, दुःख अवश्य आना चाहिए। इस

प्रकार केवल विवेकशील व्यक्ति ही सोचा करते हैं। सामान्य बुद्धि रखने वालों की यहाँ तक पहुँच नहीं।

इस प्रसंग पर मुझे एक दृष्टान्त स्मरण हो आता है। एक राजा था। उसका राजकुमार बड़ा योग्य था। राजकुमार के अनेक मित्र थे। एक मित्र तो राजकुमार के इतना घनिष्ठ था कि वह रात-दिन उसे घेरे रहता था और अल्प समय के लिए भी उससे पृथक् होना नहीं चाहता था। उसका मैत्री सम्बन्ध राजकुमार के साथ, मारवाड़ी भाषा की कहावत के अनुसार 'खाया-र्हूं खाय पीविसोड़ा" के समान था। खाना-पीना, उठना-बैठना सब साथ-साथ चलता था। राजकुमार का एक और मित्र था जिसे राजकुमार कभी-कभी याद कर लिया करते, विशेष रूप से पर्व त्योहारों के अवसर पर। वह आता, दिन-भर साथ रहता और प्रेमपूर्वक अनेक प्रकार का सलाप चलता। बिछुड़ने के पश्चात् कई बार तो वर्षों तक भेंट नहीं हो पाती थी। एक तीसरा मित्र भी था जिसके साथ कभी-कभी आते जाते मार्ग में भेंट हो जाया करती थी। जयजिनेन्द्र और कुशल-मंगल पूछने पर यह मुलाकात समाप्त हो जाती। मिल गये तो इस शिष्टाचार का पालन हो गया, नहीं तो किसे एक-दूसरे को याद करने का अवकाश था ?

एक बार महाराजा के मन में आया कि राजकुमार की परीक्षा करनी चाहिए। यह कितना चतुर है, इसके मित्र किस प्रकार के हैं, कौन इसका हितैषी है और कौन इसका अहितैषी है ? कौन प्रत्यक्ष रूप में तो इसकी चापलूसी करता है और परोक्ष में इसको नगण्य समझता है। भविष्य में मेरे उत्तराधिकारी के रूप में यह राजगद्दी सभालने वाला है। राज्यशासन का भार इसके कन्धों पर पड़ने वाला है, इसलिए इसका कोई ऐसा विश्वास-पात्र, ईमानदार, बुद्धिमान और स्वार्थहीन मित्र होना चाहिए जिसे इसका प्रधानमन्त्री बनाया जा सके।

यहाँ 'मन्त्र' शब्द का अर्थ स्पष्ट करना अप्रासंगिक न होगा। मन्त्र शब्द के दो अर्थ होते हैं : एक तो "मननात् त्रायते इति मन्त्रः" अर्थात् मनन चिन्तन के द्वारा असम्भव को भी सम्भव बनाने की जिसमें शक्ति उत्पन्न हो जाये वह मन्त्र होता है। दूसरा मन्त्र राजनीति में किये गये विचार से सम्बन्ध रखता है। दूसरे शब्दों में गोपनीय विचारधारा की मन्त्रणा को मन्त्र कहते हैं। राजा जिसके साथ गुप्त रूप से मन्त्रणा करता है, उसे मन्त्री कहते हैं। पहले मन्त्र को धारण करने वाला मन्त्रवादी कहलाता है और राजनैतिक विचारधारा को धारण करने वाला मन्त्री कहलाता है। मन्त्री शब्द संस्कृत का है। अंग्रेजी में मन्त्री को 'सेक्रेटरी' कहते हैं—सीक्रेट रहस्य को कहते हैं—गुप्त से गुप्त विचार जिसके साथ किया जाता है। इस गुप्त विचार को केवल दो व्यक्ति

ही जानते हैं, तीसरा नहीं, क्योंकि नीतिकार का कथन है :

षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः ।

गुप्त बात छह कानों में नहीं जानी चाहिए। छह कानों में जाने से उसके फूटने का डर हो जाता है। एक बार खुल गई, फिर उसे छिपाना कठिन होता है। तभी तो कहते हैं मारवाड़ी भाषा में कि 'निकली होठाँ बान्धो पोटाँ'।

राजा ने सोचा कि राजकुमार को राजा बनने के पश्चात् मन्त्री की नियुक्ति करनी होगी, इसलिए इसका मन्त्री विश्वसनीय होना चाहिए। राजा यह सोच ही रहा था कि कोई राज्य का व्यक्ति जो चुगलखोर था, राजकुमार के विरुद्ध शिकायत लेकर आ गया। राजा, राजकुमार की गम्भीर शिकायत सुनते ही क्रुद्ध हो गया और अपना निर्णय दिया कि 'कल ही राजकुमार को दस बजे सूली पर चढ़ा दिया जाये।' ठीक ही तो कहा है किसी कवि ने :

राजा किस का गोठि ।,
जोगी किसका मित्त ।
वेश्या किसकी हैं स्त्री,
तीनों ही मित्त कुमित्त ॥

राजा का आदेश सुनते ही राजकुमार स्तब्ध-सा रह गया। सोचने लगा, "राजा ने मुझसे मेरे अपराध के विषय में कुछ पूछ-ताछ नहीं की, किसी प्रकार की जाँच-पड़ताल नहीं की और एकदम मृत्युदण्ड सुना दिया। बड़ी विचित्र बात है, अब मैं क्या करूँ ?" राजकुमार दिन-भर चिन्तित रहा और किं-कर्त्तव्य-विमूढ़ हो गया। उसे कोई भी तो उपाय नहीं सूझ रहा था। सूर्यास्त हो गया, लोगों का सामान्य संचार रुक गया। राजकुमार ने सोचा, "मुझे तो मृत्युदण्ड से बचने का कोई उपाय सूझ नहीं रहा, क्यों न मैं अपने अत्यन्त घनिष्ठ मित्र से इस विषय में राय ले लूं ?" वह अपने उस घनिष्ठ मित्र के पास गया जो दिन-रात उसके साथ खाता-पीता था। राजा भी अन्धकार में वास्तविकता जानने के लिए उसके पीछे-पीछे हो लिया। मित्र का घर आ गया। द्वार खटखटाया। ऊपर से आवाज आई।

"कौन है ?"

उत्तर मिला : "मैं राजकुमार हूँ।"

"[illegible] यहाँ, यहाँ आने की आवश्यकता नहीं है। राजा तुझ पर क्रुद्ध है। कल दस बजे तुम्हें मृत्यु दण्ड दिया जायेगा। यहाँ से शीघ्रातिशीघ्र चले जाओ। कोई राज्याधिकारी सुन लेगा तो मुझे भी मृत्युदण्ड भुगतना पड़ सकता है।"

"आप एक क्षण के लिए भी नीचे आकर मेरी बात सुन लो !" राजकुमार ने अनुनयपूर्ण शब्दों में प्रार्थना की ।

"मैं नीचे नहीं आ सकता, जाओ यहाँ से," ऊपर से आवाज आई ।

राजा यह सब सुनकर आश्चर्यचकित रह गया । सोचने लगा "यह राजकुमार का घनिष्ठ मित्र है । राजकुमार इसे अपना से अच्छा मित्र मानता है, सदा अपने साथ रखता है और अपने जैसी ही सब सुविधायें इसे प्रदान करता है, तिस पर भी यह इतना कृतघ्न निकला कि संकट आने पर राजकुमार से बात करने को भी तैयार नहीं, संकट में रक्षा करने की तो बात ही दूर रही ।"

राजकुमार यह सोचकर कि ऊपर से कहीं पत्थर ही न मार दे, वहाँ से चल पड़ा । जाते-जाते सोच रहा था, "कोई किसी का नहीं है । जो इतना घनिष्ठ था कि दिन-रात सम्पर्क में रहता था, साथ-साथ खाता-पीता था, जिसको मैं हथेली के छाले के समान अपने रखता, उसका यह दुर्व्यवहार ! संकट पड़ने पर ! अब अपने उस पर्व मित्र के पास चलता हूँ जो कभी-कभी पर्व-त्योहारों के अवसर पर मेरे पास आ जाता है, साथ-साथ भोजन करता है और बड़ा प्रेम दर्शाता है ।" राजकुमार दूसरे मित्र के घर पर आया और दस्तक दी । ऊपर से आवाज आई, "कौन है ?"

"मैं हूँ राजकुमार ।" उत्तर मिला ।

"ओहो राजकुमार !" मित्र एकदम दौड़कर नीचे आया और दरवाजा खोला । राजकुमार जब घर में प्रवेश करने लगा तो कहने लगा, "कृपया बाहर ही रहो, अन्दर आने के पहले यह तो बताओ कि इस रात के समय मेरे पास आने का कारण क्या है ?"

"मुझे राजा ने मृत्युदण्ड दे दिया है, किसी चुगलखोर की बात पर विश्वास करके । कल दस बजे मुझे सूली पर लटका दिया जायेगा । आपसे इसलिए मिलने आया हूँ कि आप कोई उपाय बतावें, जिससे मेरी प्राण रक्षा हो सके ।"

राजकुमार ने पर्व-मित्र से कहा । पर्व-मित्र ने हाथ जोड़कर कहा कि "यदि महाराज आप पर क्रुद्ध हैं तो मुझमें आपके प्राण बचाने का कोई सामर्थ्य नहीं है। मैं राजा से वैर बाँधकर अपने प्राणों को संकट में नहीं डाल सकता । आप कहीं भागकर जाना चाहते हैं तो मैं आपको मार्ग के लिए धन दे सकता हूँ, भोजन की व्यवस्था कर सकता हूँ । आप जल्दी से जल्दी यहाँ से चले जायें, ऐसा न हो कि कोई राजकर्मचारी देख ले और मुझे भी लेने के देने पड़ जायें । कहते हैं कि 'हाथियां री लड़ाई में कीड़ियां रो खोगाल' ।" वह पर्व-मित्र राजकुमार को देने के लिए कुछ खर्च लाया किन्तु राजकुमार ने ग्रहण नहीं किया । कुछ दूर तक राजकुमार को पहुँचाकर वह घर लौट आया ।

राजकुमार सोच रहा था, "पहले वाले मित्र से तो यह अच्छा निकला, सहानुभूति दिखाई और अपनी दुर्बलता भी प्रकट की।" अब वह अपने तीसरे मित्र से मिलने चला। घर पर पहुँचकर द्वार खटखटाया। ऊपर से "कौन है" की आवाज़ आई। उत्तर मिला, "मैं राजकुमार हूँ।" वह झट नीचे आया, द्वार खोला और राजकुमार का हाथ पकड़कर उसे अन्दर ले जाने लगा ही था कि राजकुमार ने कहा, "पहले अपनाने और फिर धक्का देने वाली बात न हो जाये, इसलिए पहले मेरे आने का कारण जानो और उसके पश्चात् मुझे अन्दर ले जाना।"

"अरे! बात क्या बाहर सुनी जाती है? बात तो अन्दर चलकर ही करेंगे। रात्रि के समय तो वैसे भी बाहर बात करना अच्छा नहीं होता। अन्दर शान्ति से बैठकर बात करेंगे।"

तीसरे मित्र ने राजकुमार का अपने घर पर स्वागत करते हुए कहा। वह राजकुमार को अन्दर ले गया और द्वार बन्द कर लिया।

राजा सोचने लगा, "यह व्यक्ति बहुत योग्य और विश्वासपात्र मालूम होता है। अब किसी प्रकार की आशंका की चिन्ता नहीं है।" राजा लौटकर अपने प्रासाद में चले गये।

इस तीसरे मित्र ने राजकुमार का अपने घर पर हार्दिक स्वागत किया। बड़े प्रेम से खिलाया, पिलाया। राजकुमार ने जब अपनी बात सुनाने का प्रसंग छेड़ने का प्रयत्न किया तो मित्र ने कहा, "अभी तुम्हारे मन में धड़कन है, अशान्ति है, परेशानी है, पहले पूर्णरूपेण शान्त मन हो जाओ फिर जो कुछ सुनाना हो सुना देना।" जब मित्र ने जान लिया कि अब राजकुमार पूरी तरह से शान्तचित्त है, तब उससे कहा, "अब आप सुनाइये क्या सुनाना चाहते हैं?"

"किसी चुगलखोर की बात सुनकर महाराज मुझ पर क्रुद्ध हो गये हैं। मेरे लिए प्राणदण्ड की घोषणा कर दी है। कल दस बजे सूली पर चढ़ा दिया जायेगा मुझे। कुछ राय दो कि मेरी प्राण रक्षा का क्या उपाय हो सकता है!"

राजकुमार ने नम्रतापूर्ण शब्दों में मित्र से कहा।

"सरकार साहब! आपको प्राणदण्ड देंगे! किसी चुगलखोर की बातों में आकर! ऐसा कैसे हो सकता है? मैं महाराज को समझा दूंगा, और नहीं समझेंगे तो मैं भी शक्ति रखता हूं। दूसरी रियासतों के राजकुमार मेरे मित्र हैं, [illegible] बड़ा संकट खड़ा कर सकता हूं। आप सर्वथा निर्भय रहें। मुझे साम, दाम, दण्ड, भेद सभी प्रकार की नीतियों का ज्ञान है। मैं सब ठीक कर दूंगा। संसार की कोई शक्ति आपको मृत्युदण्ड देने में सफल नहीं हो सकती। मेरे रहते [illegible] कोई भी आपका बाल बांका नहीं कर सकता।"

इस प्रकार सान्त्वना देकर तीसरे मित्र ने राजकुमार को अपने घर सुला लिया। सान्त्वना पाकर राजकुमार का मन प्रमुदित हो गया और वह गहरी नींद में सो गया।

प्रातः होते ही वह मित्र राजा के पास पहुँचा और कहने लगा, "हुजूर ! किसी चुगलखोर ने जो राजकुमार के विषय में आपसे चुगली की है वह सर्वथा निराधार है। यद्यपि राजकुमार से मेरा घनिष्ठ परिचय नहीं है किन्तु इतना मैं भलीभाँति जानता हूँ कि वह छल, कपट और धोखा इन अवगुणों से रहित है। आपके पास जिसने राजकुमार की शिकायत की है आप उसका नाम बतायें, मैं उसको अच्छी प्रकार से निपट लूँगा।"

राजा राजकुमार के इस मित्र की बात को सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने राजकुमार को हिदायत कर दी कि वह इसी व्यक्ति को अपना सच्चा मित्र समझे और इसी के सम्पर्क में रहे।

ऊपर जिन तीन प्रकार के मित्रों का विवरण दिया गया है उसके आधार पर मित्र तीन कोटियों में विभक्त किये जा सकते हैं (१) नित्य मित्र, (२) पर्व-मित्र और (३) जुहार-मित्र।

हमारे आत्मा के भी तीन मित्र हैं। यह जीव स्वयं राजकुमार के समान है। शरीर इसका नित्य-मित्र है। साथ में जन्मा, साथ में लालन-पालन हुआ, साथ में खेला, और साथ में बड़ा हुआ। यह जीव अपने भविष्य का, अपने उत्थान का, अपने पतन का तनिक भी ध्यान न करता हुआ दिवानिश शरीर के पोषण में लगा रहता है। इसे नहलाता है, खिलाता है, पिलाता है, पहनाता है, ओढ़ाता है और इसकी सभी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में लगा रहता है। किसलिए? शरीर के स्वास्थ्य के लिए, शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाये रखने के लिए। यहाँ उपस्थित श्रावक भी तो यही करते हैं। शरीर की उपेक्षा करके आपने कभी अपने आत्मा की प्रवृत्ति पर ध्यान लगाया? अपने सगे-सम्बन्धियों को पत्र लिखते हो उसमें भी "डीलारा जाबता करावसी, सारा दारोमदार डीलासूं है" लिखा करते हो। तुम्हारा सभी का प्रेम शरीर तक केन्द्रित है। शरीर क्या है, ? हड्डी और मांस का पुतला ही तो है। मल-मूत्र की खान है, गन्दा है। जब तक इसमें आत्मा का अस्तित्व है, तब तक इसके सब अवगुण ढके रहते हैं। आत्मा के शरीर से निकल जाने पर तो कोई भी इसका स्पर्श भी नहीं करना चाहता। कोई स्पर्श करेगा तो अपवित्र हो जायेगा, उसे शुद्ध होने के लिए स्नान करना पड़ेगा। जब तक शरीर में आत्मा विद्यमान है तब तक इसके स्पर्श करने से आनन्द का अनुभव होता है। आत्मा के अस्तित्व के कारण ही शरीर का आदर, सम्मान और सत्कार होता है। विरहिणी परदेसी प्रियतम को स्मरण कर पुकार उठती है :

मैं डरूँ अकेली बादल में चमके बैरण बीजली।
घर आवो बनासा बादल में चमके बैरण बीजली॥

लेकिन उसी अत्यन्त प्रिय लगने वाले प्रियतम के शरीर से जब आत्मा निकल जाता है, वही पत्नी जो प्रियतम के बिछुड़ने पर क्षण-भर भी चैन नहीं पाती थी, उसके पास जाती हुई डरती है। पहले तो उसके बिना डरा करती थी और अब उससे ही डरने लगती है। वास्तव में डर का मिटानेवाला तो आत्मा था, जो कि चला गया, जड़ शरीर बाकी रह गया। आत्मा का शरीर से सम्बन्ध टूटते ही शरीर की सारी गंदगियाँ उभरकर बाहर आ गईं, सारी अपवित्रताएँ सामने आ गईं। उस आत्मा ने ही शरीर की सारी अपवित्रताओं को आच्छादित कर रखा था। उस आत्मा के अस्तित्व के कारण ही शरीर सुखमय था, आनन्दमय था। इतनी उच्चकोटि की चेतन-शक्ति का किसी को ध्यान नहीं है। कोई यह सोचने का कष्ट नहीं कर रहा है कि किस बात से आत्मा का उत्थान होता है और किस प्रकार की प्रवृत्ति से आत्मा अधोगति को प्राप्त होता है।

संक्षेप में, यह जीव या आत्मा अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति को भूलकर शरीर के पोषण में लीन है। थोड़ी-सी बीमारी आने से ही शरीर खाट पकड़ लेता है और एकदम शिथिल पड़ जाता है। जीव कहता है शरीर को, "अरे तू इतना ढीला क्यों हो गया? उद्यम कर, थोड़ा साहस रख, चल-फिर।" इसके उत्तर में शरीर कहता है, "मैं शक्तिहीन हो गया हूँ, मुझमें कुछ भी करने का साहस नहीं है।"

'अरे भले प्राणी! क्यों नहीं कुछ होता तुमसे? तुम्हें मैंने इतना खिलाया है, पिलाया है, बड़े आराम से रखा है, बड़ी से बड़ी सुविधा तुम्हें प्रदान की है। अपनी तनिक भी चिन्ता न करके तुम्हारी ही चिन्ता की है और जरा-सा कष्ट आते ही इतने कायर बन गये हो, टस से मस नहीं होना चाहते और अपनी शक्तिहीनता प्रकट कर रहे हो।" यह शरीर आत्मा का नित्यमित्र है। आत्मा जितनी शरीर की सेवा करता है उतनी उसके परिवार की भी नहीं करता। परिवारवालों को तो वह कभी-कभी पर्व-त्योहारों के अवसरों पर ही याद करता है और बुलाता है। घण्टा दो घण्टा या दिन-भर परिवार-वालों के साथ आनन्द से गुजारता है। ये परिवार वाले उसके पर्व-मित्र हैं। जब शरीर को [illegible] आती है तो परिवार वाले उसकी सेवा करते हैं, उसके [illegible] करते हैं परन्तु मृत्यु आने पर परिवार वाले कहते हैं, "[illegible] तुम्हारी बीमारी का इलाज करवा सकते हैं, [illegible] किन्तु मृत्यु से तुम्हारी रक्षा करने

में हम असमर्थ हैं। मृत्यु होने पर हम तुम्हें श्मशान तक पहुँचा देंगे, लकड़ियों की व्यवस्था भी कर देंगे। बस, इतना ही सम्भव है हमसे।"

नित्य-मित्र से पर्व-मित्र बेहतर है। तीसरी कोटि का मित्र होता है जुहार-मित्र। जुहार कोटि के मित्रों में हम साधुओं का नाम पाते हैं। कभी-कभी चलते-फिरते मार्ग में मिल जाते हैं। जब मार्ग में ही मिलाप सम्भव है तो उनके पास जाने का कष्ट कौन करे? मार्ग में मिलने पर महाराज को "मत्थएण वंदामि" कर लिया, बस कर्तव्य पालन हो गया, शिष्टाचार पूरा हो गया। महाराज साहब के यह पूछने पर "क्या बात है आप आते नहीं प्रवचन में" उत्तर मिलता है, 'आऊँगा बापजी अभी थोड़ा प्रमाद है, थोड़ा घर का काम बाकी है। अवकाश पाने का प्रयत्न करूँगा।' सन्त अचानक मार्ग में मिल गये, थोड़ी सी बातचीत हो गई बस भेंट समाप्त हो गई। इस छोटी-सी भेंट के कारण सन्त जीव के जुहार-मित्र कहलाते हैं। परन्तु ये जुहार मित्र अवसर आने पर आत्मा से मृत्यु के भय को निकालने की सामर्थ्य रखते हैं। जब कभी कोई उनके पास आकर कहता है कि "मुझ पर काल कुपित हो गया है और मेरी मृत्यु आसन्न है, अब मैं आपकी शरण में आता हूँ, मेरी रक्षा करो" तो सन्त उसको ज्ञान की शिक्षा देते हुए कहते हैं

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि गृह्णाति नवानि देही॥

अर्थात्—

"जिस प्रकार वस्त्रों के फटने पर मनुष्य उनका त्याग करके नये वस्त्रों को धारण कर लेता है, ठीक उसी प्रकार जीर्ण शरीर को त्यागकर जीव नये शरीर को धारण करता है या यों कहिये कि नये शरीर में जन्म ले लेता है। आशय यह कि मृत्यु तो शरीर-परिवर्तन मात्र है। आत्मा तो अजर है, अमर है, अविनाशी है। इसका कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। इसलिए मानव को कभी भी मृत्यु से घबराना नहीं चाहिए।" इस प्रकार सन्त लोग ऐसा आध्यात्मिक ज्ञान संसार के दुःखी लोगों को देते हैं कि यदि व्यक्ति उसको हृदय में धारण कर ले तो वह कभी भी मृत्यु से नहीं डर सकता। उसमें तो इतना साहस उत्पन्न हो जाता है कि मृत्यु का सामना करने लगता है। संथारा क्या है? मृत्यु का सामना करना ही तो है। तीन करण और तीन योगों से चार प्रकार के आहार का परित्याग करना मृत्यु का सामना करना ही है। इस प्रकार मृत्यु से मुकाबला करने की और आत्मा को अजर-अमर समझने की, साहस की और ज्ञान

की शक्ति जिज्ञासु को सन्त-महात्मा ही प्रदान किया करते हैं। इसके अतिरिक्त, सब प्रकार की भ्रान्तियों को, जीवन-मरण की मिथ्या धारणाओं को और भय को मिटाकर निर्भय रहने की शिक्षा को सन्तजन ही दिया करते हैं।

सुख और दुःख की परिभाषा करते हुए हमने आपको बताया कि बुद्धिमान व्यक्ति कभी भी सुख के पीछे अन्धे होकर नहीं पड़ते। वे जैसे सुख का स्वागत करते हैं वैसे ही दुःख का भी। जितना महत्त्व मित्र का है उतना ही शत्रु का भी है। शत्रु हमें सदा सावधान रखता है जिसका निर्देश हम ऊपर कर आये हैं। तुलनात्मक दृष्टि से देखें तब तो विपत्ति संपत्ति से भी अधिक हितकर है। सम्पत्ति प्राणी को बेहोश कर देती है किन्तु विपत्ति उसे होश में लाती है। निःसन्देह विपत्ति को सहन करना जीव के लिए सरल नहीं है किन्तु यदि उसमें धैर्य, सहनशीलता और विवेक का सचार हो तो विपत्ति को बड़ी आसानी से पार किया जा सकता है। बिना विपत्ति के जीव का जीवन कभी भी निखर नहीं पाता। इससे हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि हम सदा विपत्तियों को निमंत्रण देते रहें। हम तो केवल यही कहते हैं यदि विपत्ति या दुःख भी जीवन में आते हैं तो उन्हें धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिए और उनके महत्त्व की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

जैन-भवन, डेह (नागोर) १७ जुलाई, १९७९

आदमी, पुरुष, मानव, मनुष्य, नर और सुख-दुःख

शाश्वत सुख की प्राप्ति जीव का चरम लक्ष्य है। आदमी केवल अल्पकाल के लिए सुखी बनना नहीं चाहता किन्तु शाश्वत सुख की उपलब्धि चाहता है। निःसन्देह प्रत्येक मनुष्य न तो शाश्वत सुख के महत्व को ही समझता है और न ही उसकी परिभाषा को। जो वास्तव में मनुष्य है, वही शाश्वत सुख की अभिलाषा रखता है। जो मनुष्य होकर मनुष्यत्व को नहीं समझता, वह मनुष्य कहलाने के योग्य भी नहीं है। मनुष्य शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है उसी के आधार पर हमने यह बात आपसे कही है।

ऊपर से देखने पर अनेक शब्द समानार्थक प्रतीत होते हैं परन्तु गहराई से देखने पर सबके अर्थ अपनी पृथक् सत्ता रखते हैं। उदाहरण के लिए आदमी, पुरुष, मनुष्य, मानव और नर ये शब्द समानार्थक लग रहे हैं किन्तु वास्तव में सबके अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। आदमी शब्द को ही सर्वप्रथम लीजिये। आदम शब्द आतम शब्द से निकला है। भाषा विज्ञान की पद्धति के अनुसार 'त' का 'द' बन जाया करता है। जैसे सत्+भाव से सद्भाव, सत्+आचार से सदाचार, सत्+ज्ञान से सद्ज्ञान। इसीप्रकार 'अन्तर' शब्द का अपभ्रंशरूप 'अन्दर' बन गया है। इसमें भी 'त' का 'द' में परिवर्तन हो गया है। जिसके अन्दर आदम या आत्मा है वही आदमी है। इस निरुक्ति के अनुसार पशु, पक्षी, नारकी और देवता सभी आदमी की कोटि में आ जाते हैं। किन्तु इसके दूसरे अर्थ के अनुसार जिसको आत्मा की वास्तविकता का ज्ञान है, वही आदमी है। जो आत्मज्ञान से हीन है वह आदमी कैसे होगा? मारवाड़ी भाषा में एक कहावत है:

"तोल रो मुड़ो बांको है।"

अन्दाज अलग चीज है और परिमाण अलग। तुलने के समय अन्दाज और अनुमान काम नहीं आया करते हैं। वहां तो वास्तविकता काम आती है। जो सही वजन होगा वह सामने आ जायेगा। आदमी शब्द को अर्थ की तुला

पर रखकर जब हम तोलने बैठते हैं तो कभी यह पलड़ा भारी होगा और कभी दूसरा। तराजू का गुरु है—डांडी के ठीक बीच में लगी चोटी, जिसको पकड़कर ही दोनों पलड़ों की बराबरी देखी जाती है। गुरु बीच में रहता है और उसके इधर भी एक चेला और दूसरी ओर भी एक चेला। देव, गुरु और धर्म—इनके मध्य में विराजने वाले गुरु के देव और धर्म दोनों चेले हैं। दोनों की चोटी गुरु के हाथ में है या दूसरे शब्दों में दोनों गुरु पर अवलंबित हैं। इसका भावार्थ यह है कि देव का स्वरूप बताने वाले भी गुरु ही होते हैं और धर्म की पहचान कराने वाले भी गुरु ही होते हैं। यदि गुरु वास्तव में गुरु के गुणों से गरिष्ठ हैं, निष्काम हैं, निष्कपट हैं और आचारवान हैं तो वे निश्चय ही देव का तथा धर्म का स्वरूप यथातथ्य रूप में वर्णित करेंगे और यदि वे ऐसे नहीं हैं तो कहेंगे :

"रावल देवल गुरु के पाये।
खाली हाथ कबहुँ मत जाये।"

ऐसे गुरु तो यही कहेंगे कि देव के पास तथा गुरु के पास कुछ न कुछ भेंट लेकर ही जाना चाहिए, वहाँ खाली हाथ जाना उचित नहीं। ऐसे गुरु न तो देव के और न ही धर्म के स्वरूप को सही रूप से बता सकते हैं।

हाँ, तो हम आपसे यह कह रहे थे कि अर्थ की तुला पर तोलने से आदमी शब्द का एक अर्थ तो प्राणीमात्र पर घटित होता है जबकि दूसरा केवल आदमी का ही सूचक है। सामान्यरूप से तो सभी आदमी, आदमी कहलाते हैं किन्तु वास्तव में आदमी वही है जिसने अपने आत्मस्वरूप को पहचान लिया हो, जिसको अपनी सहज प्रकृति का ज्ञान हो गया हो।

आदमी के लिए अन्य पर्यायवाचक शब्द है 'पुरुष'। जो पुरुषार्थ करे, उद्यम करे वह पुरुष कहलाता है। पुरुषार्थ के आधार हैं—साहस और शक्ति। जिसमें इन दो गुणों का अभाव है वह पुरुषार्थ नहीं कर सकता और पुरुषत्व से गिर जाता है। अधिकार और सत्ता की प्राप्ति बिना साहस और शक्ति के नहीं हो सकती। 'पुरुष' संस्कृत का शब्द है, प्राकृत में 'रु' का 'रि' बनकर 'पुरिस' बन जाता है। संभवतः इसी पुरिस शब्द से 'पुलिस' शब्द निष्पन्न हुआ है क्योंकि अर्धमागधी में 'र' का 'ल' हो जाता है और संस्कृत में भी 'रलयोरभेदः' ऐसा माना गया है। राजकीय-सुरक्षा-वर्ग के आदमी पुलिस कहलाते हैं। सामान्य पुरुषों की अपेक्षा से वे अधिक साहसी, चुस्त और शक्तिशाली होते हैं, इसलिए पुलिस शब्द उन पर वास्तविक रूप में चरितार्थ होता है। जो व्यक्ति आलसी है, उद्यमहीन है, मात्र भाग्य पर भरोसा रखने वाला है, वह कभी अपने को पुरुष कहलाने योग्य नहीं बना सकता। यहाँ उप-

विधन आदर्शों पर पुरुष शब्द का अर्थ कहाँ तक घटित होता है यह तो आप के सोचने की बात है।

आदमी का तीसरा पर्यायवाचक शब्द है 'मानव', मानव का अर्थ है 'मनु की सन्तान'। मनु का अर्थ है 'ज्ञानी'। जो ज्ञानी पुरुषों के अनुगामी हैं या जीवन के क्षेत्र में ज्ञान का आश्रय लेकर बोलते हैं, चलते हैं और आचरण करते हैं, वे होते हैं 'मानव'। मान-मर्यादा को धारण करने वाले को भी मानव कहा जा सकता है। आज के युग में मानवतावादी सिद्धान्त का बड़ा बोलबाला है। तात्त्विक लोग प्रायः यह कहते हुए सुने जाते हैं कि आज का मानव, मानव है या दानव? वास्तव में आज का मानव, मानव न रहकर दानव बन रहा है। अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए वह विज्ञान का आश्रय लेकर व्यापकरूप से जनसंहार कर रहा है। उसमें मानवता लुप्त हो रही है। आज के मानव को मानव कहना, कहाँ तक उचित है यह आप भलीभाँति जानते हैं।

चौथा शब्द आदमी के लिए है 'मनुष्य,' जिसका अर्थ है 'मननशील'। किसी भी बात को सुनकर या देखकर जो व्यक्ति यह मनन करता है, चिन्तन करता है, तुलना करता है कि उसमें कितने गुण हैं, कितने दुर्गुण हैं वह मनुष्य कहलाता है। सारे काम छोड़कर आप यहाँ व्याख्यान सुनने को बैठे हैं। यदि सब कुछ सुनकर भी आपने उस पर मनन-चिन्तन न किया, कुछ ग्रहण कर उसे जीवन में न उतारा तो आप मनुष्य कैसे बन सकेंगे? इसलिए हमारा आपको यही उपदेश है कि आप इस मनुष्य शब्द को अपने ऊपर चरितार्थ करें।

मनुष्य का पर्यायवाचक एक शब्द 'नर' भी है। जो करने योग्य और न करने योग्य काम का निर्णय करता है, वह 'नर' कहलाता है। निर्णय करना भी सरल काम नहीं है। न्यायालयों में न्यायाधीश सहसा निर्णय नहीं ले लिया करते। अनेक पेशियाँ भुगतनी पड़ती हैं, वकीलों में लम्बे-चौड़े वाद-विवाद चलते हैं, तब कहीं न्यायाधीश निर्णय दे पाता है। निर्णय देने के लिए स्थिरमतित्व की आवश्यकता है। अस्थिर बुद्धि वाले लोग निर्णय देने की प्रतिभा से हीन होने के कारण त्रिशंकु की तरह बीच में ही लटकते रहते हैं। उनकी दशा तो वैसी ही होती है :

> "न इधर के रहे न उधर के बने,
> न खुदा ही मिला न विसाले सनम।"

नर का विरोधी शब्द मादा है। पृथ्वीराज चौहान का नाम किसने नहीं सुना। वह बड़ा वीर-योद्धा था। ठीक उसी प्रकार की आकृति के सो और पुरुष सदा उसके साथ रहा करते थे। सभी की वेशभूषा भी पृथ्वीराज के ही

समान थी। डील-डौल में भी वे पृथ्वीराज के ही समान थे। सभी के सभी परम स्वामीभक्त और स्वामी के संकेत पर चलने वाले थे। पृथ्वीराज अलग और सौ सामन्त अलग। पृथ्वीराज की एक दासी थी जो केवल पृथ्वीराज से ही घूंघट निकाला करती थी। शेष सौ सामन्तों से वह खुलकर बात किया करती थी। यह बात उन सौ सामन्तों को बहुत अखरती थी। सब सामन्त यह सोचा करते थे कि "हम में और पृथ्वीराज में क्या अन्तर है, सब एक से ही तो हैं फिर इस दासी का हमसे खुलकर बात करना और पृथ्वीराज से घूंघट निकालना ऐसा क्यों है? क्या हम में किसी प्रकार की कमी है?" उनको कुछ भी इसका रहस्य समझ में नहीं आया। आखिर एक दिन एक सामन्त दासी से पूछ ही बैठा, "क्या बात है, तुम हमसे तो घूंघट निकालती नहीं और पृथ्वीराज से घूंघट निकाला करती हो। क्या हमारे प्रति तुम्हारे मन में आदर-मान नहीं है?"

"तुम सब व्यक्तियों में कोई नर हो तो घूंघट निकालूं! तुम सबमें तो केवल एक पृथ्वीराज ही नर है, मैं उससे घूंघट निकाला करती हूँ।" सामुद्रिकशास्त्र में नर का भी एक लक्षण बताया गया है। जिसकी छाती पर स्तन का चिह्न न हो वह नर कहलाता है। कहते हैं कि पृथ्वीराज की छाती पर स्तन का चिह्न नहीं था। दासी की बात को सुनकर सब सामन्तों के चेहरे उतर गये और सोचने लगे कि इससे तो दासी से प्रश्न न ही किया जाता तो अच्छा था। किंवदन्ती के अनुसार अर्जुन के स्तन के चिह्न नहीं थे। तीर्थंकरों के और घोड़े के भी स्तन के चिह्न नहीं होते। आजकल तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के लोग स्तन-चिह्न बनाने लगे हैं, जो अनुचित है।

प्रसंगवश हम प्रस्तुत विषय से बहुत दूर चले गये हैं। हम कह रहे थे कि निर्णय करने की सामर्थ्य हर एक में नहीं होती, जो निर्णय करना जानता है वही नर है। चित्त की चंचलता का अभाव या दूसरे शब्दों में मन की एकाग्रता का निर्णायक में होना परमावश्क है।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए भी दृढ़ श्रद्धा की जननी मन की स्थिरता का होना परमावश्यक है। बहुत-से लोग श्रद्धा को दिल की दुर्बलता मानते हैं किन्तु वास्तव में श्रद्धा का अभाव ही दिल की दुर्बलता है। अस्थिर मन में श्रद्धा निवास नहीं किया करती। ऐसे लोग जो अवसरवादी होते हैं और जहाँ गये वहीं के रंग में रंग जाते हैं, वे श्रद्धा जैसी पावन भावना को अपने मन में स्थान नहीं दे सकते। गंगा गये तो गंगादास, जमना गये तो जमनादास और मथुरा गये तो मथुरादास—बस, सर्वत्र दास बनने वाले [illegible] को क्या पहचान सकते हैं? ऐसे व्यक्तियों में दृढ़ श्रद्धा का स्थान कैसे मिल सकता है? अपने ध्येय पर दृढ़ रहने की क्षमता

उनमें नहीं हो सकती।

व्याख्यान के प्रारम्भ में जो चर्चा चली थी उसमें हमने कहा था कि संसार के सब प्राणी सुख की अभिलाषा करते हैं, दुःख किसी को प्रिय नहीं है। आगम का कथन है :

"सव्वे पाणा पियाउया।
सुहसाया दुक्खपडिकूला॥"

आचारांग १/२/३.

अर्थात्—सब प्राणियों को अपना जीवन प्रिय होता है सुख सबको अच्छा लगता है और दुःख सबको बुरा लगता है। सूत्रकृतांग में भी इसी सत्य की पुष्टि करते हुए लिखा है :

"सव्वे अकंतदुक्खा य।"

जिनमें मानवता है, मननशीलता है और चिन्तनशीलता है वे ही शाश्वत सुख की प्राप्ति करना चाहेंगे। सांसारिक सुख-दुःख की वे तिलमात्र भी परवाह नहीं करेंगे। संसार के सुख-दुःख का कोई महत्त्व भी नहीं है।

लोगों ने सुख और दुःख ये शब्द तो सुन रखे हैं किन्तु वे इन शब्दों के वास्तविक अर्थ से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। सु और दु—ये दो अक्षर हैं जिनके साथ 'ख' लगा हुआ है। 'सु' का अर्थ है अच्छा और 'दु' का अर्थ है बुरा। 'ख' का अर्थ कोश के अनुसार आकाश होता है। आकाश शून्य स्थान को कहते हैं। जैन सिद्धान्त में जो छह द्रव्य माने गये हैं, वे सभी आकाश या शून्य में रहते हैं। जीव एवं पुद्गलों को, जिनकी संख्या अनन्तानन्त है, ठहरने के लिए आकाश स्थान देता है। आकाश नाम का द्रव्य सर्वथा शून्य माना जाता है। वह पूर्ण रूप से कभी भी नहीं भरता। आकाश की कोई सीमा नहीं है, वह तो सर्वत्र व्यापक है। ऊपर-नीचे सर्वत्र आकाश फैला हुआ है। लोटा दूध से या पानी से भरा दिखाई देता है किन्तु आकाश उसमें भी विद्यमान है, यदि आकाश वहाँ न होता तो चीनी वहाँ कैसे समा जाती। दीवार में भी यदि आकाश न होता तो कील कैसे ठुक सकती? धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—इन छह द्रव्यों से सारा विश्व भरा हुआ है।

सु+ख, अच्छा खाली स्थान और दु+ख, बुरा खाली स्थान। कोई व्यक्ति एक वर्ष तक निरन्तर दुःख भोगता है, बड़ा व्याकुल रहता है किन्तु वर्ष की समाप्ति पर उसे जब सुख मिल जाता है तो अपना सारा दुःख भूल जाता है। एक वर्ष तक दुःख ने अपनी उपस्थिति द्वारा किसी रिक्त स्थान को नहीं भरा। एक क्षण का सुख मिलते ही दुःख ऐसे चला गया जैसे उसका

सदा से ही अभाव था। थोड़ा-सा आराम मिलते ही लोग अफलातून बन जाते हैं। सोने का, जागने का, खाने का, पीने का कुछ भी ध्यान नहीं करते। निरंतर बीस वर्ष तक भी यदि आपने सब प्रकार के सुख को भोगा है, जीवन का पूरा आनन्द लिया है तो उस आनन्द की कुछ तो स्थिरता होनी चाहिए, परन्तु वह स्थिरता दृष्टिगोचर नहीं होती। एक क्षण के लिए भी यदि दुःख की अवस्था आ जाती है तो बीस वर्ष का सुख एक क्षण में ही लुप्त जाता है। थोड़े-से दुःख से ही लोग यहाँ तक कहते सुने गये हैं, "मैंने तो माता के गर्भ से जन्म लेने के पश्चात् कभी सुख का मुँह देखा ही नहीं।" इतना सुख पाने के पश्चात् आखिर खालीपना का खालीपना ही रहा। अन्तर केवल इतना है कि दुःख का खालीपना हमें अधिक अखरता है और सुख का खाली-पना कम अखरता है। वास्तव में खाली स्थान को न दुःख ही भरने में समर्थ है और न सुख ही।

इसी कारण ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि संसार के सुख-दुःख का कोई महत्त्व नहीं है। मोक्ष का सुख शाश्वत सुख है, सार्वकालिक सुख है, अतः उसी की प्राप्ति का प्रयत्न मानव को करना चाहिए। सांसारिक उपकरण हमारे पास रहें चाहे न रहें, इसकी चिन्ता छोड़कर हमें शाश्वत सुख की उस अवस्था तक पहुँचना चाहिए जहाँ न्यूनाधिकता न होकर एकरसात्मकता है। यह एकरसात्मकता मोक्ष के अतिरिक्त कहीं पर नहीं है। मोक्ष को पाने के लिए सम्यक्त्व का उद्बोध होना अत्यावश्यक है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) १८ जुलाई, १९७९

जाति-चाण्डाल और कर्म-चाण्डाल

शाश्वत सुखों की प्राप्ति जीव के मुक्त होने के पश्चात् ही हुआ करती है। उस शाश्वत सुख की अनुभूति अनुपम है और अनिर्वचनीय है। सांसारिक सुखों के समान शाश्वत सुख क्षणिक अथवा अस्थिरस्थायी नहीं होते। शाश्वत सुखों की उपलब्धि के लिए विरले जन ही प्रयत्नशील होते हैं। अधिसंख्य लोग तो सांसारिक सुखों के लिए ही लालायित पाये जाते हैं। हमारे सामने अब प्रश्न यह है कि यदि हमें अशाश्वत सुख भी प्राप्त हैं तो क्या उनके प्रति भी कुछ लोगों के मन में ईर्ष्या की भावना उत्पन्न होती है? इसका उत्तर स्वीकारात्मक है। हम अपने दैनिक जीवन में देखते हैं कि यदि कोई व्यक्ति सुखी है, सम्पन्न है तो लोग उसे देखकर जलते हैं, कुढ़ते हैं और तरह-तरह की दुर्भावनायें उसके प्रति मन में लाते हैं। मारवाड़ी भाषा की यह कहावत कि:

"परसुखे दुखिया"

इसी सत्य को पुष्टि करती है। उदाहरण के लिए किसी ने किसी साईं से पूछा, "कुतिया क्यों भौंक रही है?" उत्तर मिला, "साली का पेट दुख रहा है।" क्यों दुख रहा है, "इसलिए कि साईं जी को तो लोग घर घर से रोटी डालते हैं, बुलाकर भी देते हैं, उसे कोई एक टुकड़ा भी नहीं डालता। दर-दर भटकती है, सब जगह लोग 'धुत्धुत्' करके दुत्कारते है।"

दूसरे के सुख को देखकर दुखी होने की, इस उदाहरण में झलक है। दूसरे के सुख को देखकर मन में जो जलन होती है उसका आधार ईर्ष्या की भावना है। ईर्ष्या की भावना को शास्त्र में महापाप माना है। यहाँ तक कि ईर्ष्यालु मनुष्य को चाण्डाल की संज्ञा दी है.

ईर्ष्यालुः पिशुनश्चैव, कृतघ्नो दीर्घरोषकः।
चत्वारः कर्मचाण्डालाः, जातिचाण्डालपञ्चमः॥

यद्यपि मूलरूप में चाण्डाल दो ही प्रकार के होते हैं— कर्म-चाण्डाल, और जाति-चाण्डाल, किन्तु संख्या की दृष्टि से वे पाँच प्रकार के माने गये हैं— ईर्ष्या करने वाला, चुगलखोर, कृतघ्न, चिरक्रोधी और जाति का चाण्डाल। इन सबमें ईर्ष्यालु का स्थान सर्वप्रथम है। दूसरे को सुखी, सम्पन्न, उन्नत, यशस्वी और प्रतिष्ठित देखकर उसके प्रति जो मन में ईर्ष्या रखता है या जलता है, उसे ईर्ष्यालु कहते हैं। ईर्ष्या से बढ़कर कोई बुरी बात नहीं है। उन्नति, यश और प्रतिष्ठा के पीछे मनुष्य का अपना अध्यवसाय और पुरुषार्थ छिपा होता है। पता नहीं किन-किन कष्टों को झेलकर वह इनकी प्राप्ति करता है। वह किसी का माल छीन-झपटकर तो आगे नहीं बढ़ा है, अपने पुरुषार्थ से उसने जीवन में प्रगति की है। बिना किसी को हानि पहुंचाये प्रगतिपथ पर बढ़ना कोई अपराध नहीं माना जा सकता। नैतिक संहिता भी उसका समर्थन करती है। अपने साहस से और साधनों से उसने प्रतिष्ठा प्राप्त की है। ऐसा व्यक्ति तो समाज के लिए, धर्म के लिए अनुकरणीय है। सब का कर्तव्य है कि उसके प्रति सद्भाव रखें और उसकी मंगलकामना करें किन्तु ऐसा न करके कुछ लोग उसे देखकर जलते हैं, ईर्ष्या करते हैं और उसका बुरा चाहते हैं। यह अनुचित है, निन्दनीय है और हेय है। दूसरे के यश को देखकर जलने वालों के लिए तभी तो शास्त्रकार कहते हैं :

> "दह्यमाना सुतीव्रेण नीचाः परयशोऽग्निना।
> अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते॥"

शार्ङ्गधर पद्धतिः, ३७५

अर्थात्—

दूसरे के यशरूपी तीव्र अग्नि से जलते हुए ईर्ष्यालु नीच पुरुष, यशस्वी व्यक्ति के उच्च पद को प्राप्त करने की स्वयं में सामर्थ्य न पाकर उसकी निन्दा पर उतारू हो जाया करते हैं।

ईर्ष्यालु पुरुष अपनी दुष्टता का त्याग नहीं किया करते। स्वयं तो उनमें [illegible] होती नहीं, दूसरों की वे सहन नहीं करते। जबकि यशस्वी पुरुष तो समाज, जाति और राष्ट्र की प्रतिष्ठा को बढ़ाने वाले होते हैं। [illegible] उनकी निन्दा करने का या उनके प्रति ईर्ष्या करने का क्या [illegible]?

[illegible], यह तो सर्वसम्मत बात है कि जिसका पुण्य प्रबल होता है [illegible] होता है, वही जीवन के क्षेत्र में आगे बढ़ना [illegible] है और [illegible] है। ऐसे पुण्यवान व्यक्ति से ईर्ष्या

करना, व्यक्ति के प्रति नहीं किन्तु गुण्य के प्रति ईर्ष्या है। व्यक्ति तो एक माध्यम है, गुणों का परिचायक है। लोगों को धर्म का और गुणों का व्यक्ति द्वारा ही तो ज्ञान होता है। मुख्य वस्तु तो गुण है, धर्म है, पुण्य है जिनका आश्रय लेकर व्यक्ति उन्नति करता है। मारवाड़ी भाषा में एक कहावत बड़ी प्रसिद्ध है :

"दाल री बाफ में ढोकलियां सीझे"

ढोकलियों के लिए अलग से आदण चढ़ाने की आवश्यकता नहीं होती। वह तो दाल के साथ में ही सीझ जाती है।

व्यक्ति ढोकलियों के समान है। आगे बढ़ते हुए व्यक्ति से जो ईर्ष्या करता है, जलता है, वह पुण्य और धर्म से ईर्ष्या करता है, या दूसरे शब्दों में पुण्य और धर्म की अवहेलना करता है। धर्म और पुण्य की अवहेलना करने वाला व्यक्ति जन्मजन्मान्तरों में भी अपनी उन्नति के संस्कारों का संचय नहीं कर सकता। उत्तर भवों में भी उसका निरन्तर पतन होता चला जाएगा। यही कारण है कि ज्ञानी पुरुषों ने ईर्ष्यालु पुरुष को कर्म-चाण्डाल के नाम से अभिहित किया है।

दूसरे नम्बर पर आता है 'पिशुन'। पिशुन कहते हैं 'चुगली करने वाले को या चुगलखोर को'। चुगली उगली हुई चीज होती है। उगली वमन की हुई वस्तु को कहते हैं। वास्तविक बात तो व्यक्ति के द्वारा किया गया कृत्य है। झूठ बोला होगा किसी के शिकंजे में फंसकर, मुसीबत के फंदे में फंसकर। झूठ बोलकर उससे छुटकारा पा गया। पर-स्त्री-सेवन करके आया, वहाँ भी झूठ बोलकर थोड़ी देर के लिए बच गया। किसी भी अकृत्य का सेवन करके व्यक्ति को अस्थायी रूप में ही सही कुछ तो सुख की प्राप्ति होगी किन्तु चुगली करने वाला तो इन क्षणिक सुखों से भी कोसों दूर है। चुगली करने वाले चुगलखोर के हाथ चुगली करने से कुछ नहीं आता। *चुगली करना शास्त्र में बहुत बड़ा पाप माना गया है।*

पापों की संख्या १८ है। इन १८ पापों में से एक पाप है—पैशुन्य। इसी पैशुन्य को हिन्दी भाषा में चुगली के नाम से जाना जाता है। पैशुन्य से मिलते-जुलते कुछ और भी पाप हैं। जैसे मृषावाद, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद और मिथ्यादर्शनशल्य। क्रमशः इनका क्रम इस प्रकार है—*दूसरा, तेरहवाँ, चौदहवाँ, पन्द्रहवाँ और अठारहवाँ।* मिथ्या भाषण करना या झूठ बोलना मृषावाद है। किसी पर झूठा कलंक लगाना अभ्याख्यान है। चुगली करना पैशुन्य एवं झूठी या सच्ची निंदा करना परपरिवाद

कहलाता है। मान्यता अर्थात् किसी भी वस्तु के प्रति अपनी धारणा को यथार्थ न रखना मिथ्यादर्शनशल्य है। दूसरे पाप में केवल झूठ बोलने की क्रिया है, जबकि अठारहवें पाप में व्यक्ति की मान्यता व धारणा ही झूठी होती है। इसीलिए अठारहवें पाप को आत्मा के लिए सबसे अधिक घातक माना गया है। शास्त्रकारों ने अठारह पापों का जो यह क्रम प्रतिपादित किया है उसमें यह भी एक हेतु है कि ये पाप उत्तरोत्तर अधिकाधिक घातक हैं। इस दृष्टि से चुगली करने का पाप भी झूठ बोलने व कलंक लगाने के पाप से अधिक घातक सिद्ध हो जाता है।

हाँ, तो प्रसंग चल रहा था पाँच प्रकार के चाण्डालों का। इनमें ईर्ष्यालु और पिशुन नाम के चाण्डालों का विवरण तो आपके सामने प्रस्तुत किया जा चुका है। अब तीसरा है—कृतघ्न नाम का चाण्डाल। किये हुए उपकार को न मानने वाला कृतघ्न कहलाता है। इस प्रसंग पर एक कथा स्मरण हो आई। जंगल के मार्ग से होता हुआ एक पण्डित जा रहा था। मार्ग में वृक्ष के नीचे एक कुत्ता बैठा हुआ था, बहुत उदास और अत्यन्त निराश। पण्डित मन में सोचने लगा :

"यह प्राणी जंगल का निवासी तो नहीं है। यह तो ग्राम्य पशु है। मनुष्यों के सम्पर्क में रहने वाला है, फिर यह जंगल का आश्रय लेकर क्यों बैठा है और बैठा भी ऐसे है जैसे संसार से तंग आ गया हो, जीवन इसे भारभूत हो गया हो और आत्महत्या के लिए उद्यत हो।" पण्डितजी कुत्ते के समीप गये और उसकी उदासी का कारण पूछा। कुत्ते ने कहा, "मैंने आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया है। मैं महान् और असह्य दुःख से सन्तप्त हूँ। मैं जहाँ भी जाता हूँ लोग मुझे दुत्कारते हैं। लोग जिस पर नाराज होते हैं, क्रुद्ध होते हैं उसके प्रति गहरी घृणा प्रकट करते हुए कहा करते हैं 'अरे! कुत्ते, हट यहाँ से' इस वाक्य में कुत्ता जाति के लिए कितना अपमानजनक भाव व्यक्त होता है? संसार में मेरे से अधिक कोई प्राणी घृणित नहीं है। सबसे अधिक तिरस्कार मेरा ही होता है। यह बात मेरे दिल में काँटे की तरह चुभ रही है। मैं यह सोच रहा हूँ कि ऐसी अपमानपूर्ण जिन्दगी से तो मरना ही अच्छा है। मारवाड़ी भाषा की कहावत है :

जीविया रे जीविया, धूल थारो जीविया।

ऐसी जिन्दगी में रखा ही क्या है? एक सुलगती अग्नि के समान होता है ऐसा जीवन तो। ऐसी अग्नि से निराशाओं का धुआँ उठा करता है जिससे [illegible] भी दूषित हो जाया करते हैं। ऐसी [illegible] जिन्दगी यदि [illegible] भी चले तो उससे क्या लाभ? एक

नीतिकार का कथन है :

"क्षण प्रज्वलितं श्रेयः, न च धूमायितं चिरान्।"

अर्थात्—धधकती अग्नि के समान क्षण-भर जीना अच्छा किन्तु धुँधुआती आग की तरह चिरकाल तक जीना किसी काम का नहीं। अच्छा तो यही है कि जीवन धधकती ज्वाला के समान प्रकाशमान हो। जिनको गर्मी की आवश्यकता है उनको गर्मी मिले, जहाँ अँधेरा हो वहाँ प्रकाश हो जाये, जो सिकोना चाहते हैं उनको ताप की प्राप्ति हो। ऐसा उपयोगी जीवन तो क्षण-भर का भी अच्छा होता है, इसके विपरीत सुलगने वाले जीवन का तो कुछ भी महत्त्व नहीं।

पण्डित ने कुत्ते की बात को बड़े ही ध्यान से सुना। वह सोचने लगा, "इसके भीतर इतना ज्ञान कहाँ से आ गया ? कुत्ता होकर भी यह तो बड़ा समझदार और बुद्धिमान है।" पण्डित ने कुत्ते से कहा,

> शोकं मा कुरु कुक्कुर !
> सत्त्वेष्वहमधम इति मुधा साधो !
> कष्टतोऽपि हि स नीचः,
> यः परकृतमुपकारं न जानाति ॥

अरे कुत्ते ! तुम शोक मत करो और यह मत सोचो कि मैं सब प्राणियों में अधम हूँ। तुमसे भी कहीं बढ़कर संसार में वह नीच व्यक्ति है जो दूसरे के द्वारा अपने ऊपर किये गये उपकार को भुला देता है।

शास्त्रकार तो गुणग्राहकता पर बल देते हैं, यही कारण है कि उन्होंने कुत्ते को भी निकृष्ट नहीं माना है किन्तु उसके भी गुणों का बखान करते हुए लिखा है :

> बह्वाशी स्वल्पसन्तुष्टः, सुनिद्रः शीघ्रचेतनः।
> प्रभुभक्तश्च शूरश्च, ज्ञातव्याः षड्शुनो गुणाः ॥
>
> चाणक्यनीतिसार, ६६.

अर्थात्—कुत्ता यद्यपि बहुत आहार करने वाला प्राणी है किन्तु उसे थोड़ा भी मिल जाये तो उससे भी सन्तुष्ट हो जाता है। अच्छी नींद लेने वाला होते हुए भी उचित अवसर पर तुरन्त जग जाता है। अपने स्वामी का पक्का भक्त होता है और वीरात्मा होता है। ये छह गुण कुत्ते में होते हैं।

ये छह गुण तो सामान्य रूप से मनुष्य में भी मिलने कठिन हैं। पण्डित ने कुत्ते से कहा, "तेरे अन्दर तो इतने अच्छे गुण हैं जो मनुष्यों के लिए भी अनु-

करणीय हैं, फिर तू इतना निराश क्यों हो रहा है ? इतने लम्बे-चौड़े संसार में तेरी कद्र करने वाले भी अवश्य मिलेंगे।"

इस प्रकार शास्त्र में कृतघ्न की बड़ी निन्दा की गई है और कृतघ्नता को बहुत बड़ा पाप माना गया है। इतना बड़ा पाप कि :

> ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
> निष्कृतिर्विहिता लोके कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥
>
> पंचतन्त्र, ४/११:

अर्थात्—ब्रह्महत्या करने वाले व्यक्ति की, शराब पीने वाले की और लिए गये व्रत का भंग करने वाले की तो पाप से मुक्ति सम्भव है किन्तु कृतघ्न व्यक्ति तो कभी भी पाप से मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता।

चौथा चाण्डाल होता है 'दीर्घरोपक'। दीर्घरोपक उसे कहते हैं जो चिर-काल तक वैर को बनाये रखता है, उसे कभी भूलता नहीं है। इस प्रसंग पर एक उदाहरण स्मरण हो आया है :

दो ब्राह्मण थे, जो खेती का काम किया करते थे। दोनों के खेत पास-पास थे। एक ब्राह्मण जब हल चला रहा था तो उसका बैल थककर या किसी रोग के कारण चलते-चलते बैठ गया। ब्राह्मण ने बैल को उठाने के अनेक प्रयत्न किये किन्तु वह बैल उठ नहीं सका। वह क्रोध से भर गया और उसने बैल को डंडे से इतना मारा कि डंडा भी टूट गया। अब उसने मिट्टी के ढेलों से बैल को मारना आरम्भ कर दिया। इतना मारा कि बैल के प्राण निकल गये। आसपास के हल चलाने वालों ने उसे देखा और उससे कहा, "तूने यह बहुत बुरा काम किया है। एक तो ब्राह्मण को खेती करने का ही निषेध है, दूसरे तुमने इतना क्रोध किया कि बैल की जान ही ले ली। यह तो तुमने 'गोहत्या' कर डाली जो महापाप है। बिजली की गति के समान यह बात सारे गाँव में फैल गई। बड़े-बूढ़े ब्राह्मणों ने पंचों को एकत्रित किया और सब के निर्णय के अनुसार उस गोहत्यारे ब्राह्मण को जाति से बहिष्कृत कर दिया। पंचायत ने कहा, 'अपराधी को दण्ड तो मिलना ही चाहिए, अन्यथा और लोगों को भी ऐसे अत्याचार के लिए प्रेरणा मिलेगी। जाति से बाहर कर देना भी कोई साधारण दण्ड नहीं होता। गोहत्यारे ब्राह्मण का सारा परिवार बड़े संकट में पड़ गया। पंचों के समक्ष पुनः विचारार्थ प्रार्थना-पत्र पेश किया गया। सुनाई [illegible] पंचों ने अपना निर्णय देते हुए कहा, "यह गोघातक विधिपूर्वक गंगा-स्नान करे [illegible] की अस्थियों का गट्ठर बांधकर अपने सिर पर रखे हुए [illegible] मुझे देंगे, मुझे स्वीकार होगा, किन्तु आप [illegible] न करें। इस प्रकार [illegible] किया और प्रार्थना करने पर

ही पुनः और निर्णय लिया जा सकता है।"

पंचों के कथनानुसार ब्राह्मण ने सारा प्रायश्चित्त यथावत् किया। इसके पश्चात् पुनः विचार के लिए अनेक वेद-पुराणों के पाठी ब्राह्मण बहुत बड़ी संख्या में एकत्रित हुए, हत्यारे ब्राह्मण को बुलाया गया। उसने सब ब्राह्मणों की पगरखियों का गट्ठर बांधकर सिर पर उठाया और प्रार्थना की अपने को जाति में पुनः सम्मिलित करने की। पंचायत बैठ गई और निर्णय पर विचार प्रारम्भ हो गया। एक वृद्ध ब्राह्मण ने कहा, "पंचो! आपके निर्णय के अनुसार यह पापी ब्राह्मण जाति से बहिष्कृत रहा, गंगा स्नान भी इसने किया, विधिविधानपूर्वक अपना शुद्धिकरण भी किया, आप सबकी पगरखियों को भी सिर पर रखा। यह सब देखकर आप सब पंचों की ऐसी राय मुझे प्रतीत होती है कि आप इसे पुनः जाति में मिलाने का निर्णय देदें। मैं इससे एक प्रश्न पूछना चाहता हूं।" "पूछिये" सब ने एक स्वर में उत्तर दिया। वृद्ध ब्राह्मण ने गोघातक ब्राह्मण से पूछा, "यदि वह मृत बैल तुम्हारे सामने जीवित अवस्था में उपस्थित हो जाये तो तुम उसके साथ कैसा व्यवहार करोगे?"

वृद्ध ब्राह्मण की बात सुनते ही हत्यारे ब्राह्मण की आंखें लाल हो गईं और वह क्रोध से भर गया। बोला, "यदि वह बैल अब मेरे सामने आ जाये तो मैं उसके टुकड़े टुकड़े कर दूं। जिस दुष्ट के कारण मुझे जाति से बहिष्कृत होना पड़ा, जूतियां उठाकर बुरी तरह से अपमानित होना पड़ा, उसके साथ मैं वैसा ही व्यवहार करूंगा जैसा पहले किया था।"

पंचों को सम्बोधित करते हुए वृद्ध ब्राह्मण ने कहा, "इस व्यक्ति को जाति से बहिष्कृत करने से, गंगा स्नान करने से और पंचों की जूतियां उठाने से कोई लाभ नहीं हुआ। ये सारी क्रियाएँ तो इसलिए थीं कि इसको अपने किये गये पाप पर पश्चात्ताप होता, इसके हृदय का परिवर्तन होता, पाप के प्रति इसके मन में ग्लानि उत्पन्न होती, और भविष्य में ऐसा पाप न करने की प्रेरणा मिलती। यह तो वैसा का वैसा ही कठोर हृदय है जैसा पहले था। इसके मन में वही क्रोध और वही दुर्भावना है। अतएव पंचों द्वारा दिया गया गंगा-स्नान आदि दंड सब व्यर्थ गया है। दंड के द्वारा इसकी आत्मा में तनिक भी परिवर्तन नहीं आया है। जो समता, सद्भावना, सहानुभूति और करुणा उस बैल के प्रति जागृत होनी चाहिए थी, वे तो हुईं नहीं। बाह्य-शुद्धि होने पर भी इसकी अन्तरात्मा सर्वथा अशुद्ध है। अब आपकी इच्छा है, जैसा चाहो वैसा निर्णय लो।"

शास्त्रकारों ने ऐसे व्यक्ति को 'दीर्घरोषी' कहा है। स्थान, समय और परिस्थिति में परिवर्तन आने पर ही जिसकी कलुषित मन स्थिति में कुछ भी

अन्तर नहीं आ पाता, कोई कमी नहीं आती, वह 'दीर्घरोषी' चाण्डाल ही माना जाता है।

पूर्वोक्त ईर्ष्यालु, पिशुन, कृतघ्न और दीर्घरोषी इन चारों को शास्त्रकार चाण्डाल मानते हैं। जो जाति से चाण्डाल होता है उसको तो पाँचवाँ चाण्डाल बताया गया है। इन पाँचों को 'कर्म-चाण्डाल' और 'जाति-चाण्डाल' इन दो भागों में बाँटा है। इन दोनों प्रकार के चाण्डालों में जाति-चाण्डाल शुद्ध होते हैं। वे तपश्चर्या द्वारा अपनी आत्मा का कल्याण करके देवताओं द्वारा भी वन्दनीय बन जाते हैं और राजदरबारों में भी वे सम्मान प्राप्त किया करते हैं; किन्तु जो कर्म-चाण्डाल होते हैं उनका सुधार इसलिए संभव नहीं क्योंकि उनमें कषायों की उग्रता होती है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि सम्पन्न व्यक्तियों को देखकर लोग ईर्ष्या किया करते हैं। परन्तु कई बार ऐसा भी होता है कि वह ईर्ष्या उत्पन्न नहीं होती। जो व्यक्ति चिरकाल तक अनेक कष्टों को झेलकर सुख प्राप्त करता है उसके सुख के प्रति लोगों की सहानुभूति भी देखी जाती है। "बड़े कष्ट के पश्चात् बेचारे को सुख मिला है।" ऐसा लोग कहने लगते हैं। आज हमारे समक्ष जो तपस्या करते हैं, इन्द्रियों का दमन करते हैं, शरीर का शमन करते हैं और अनेक प्रकार के पहले कष्ट उठाते हैं, उनको बाद में जब धर्म के प्रभाव से पुण्योदयरूपी फल मिलता है, सुख मिलता है उसके प्रति किसी को भी ईर्ष्या नहीं होती। इसी प्रकार धर्मध्यान एवं आत्मरमणता के फलस्वरूप मिलने वाले शाश्वत सुखों के प्रति भी किसी को ईर्ष्या नहीं हो सकती। शाश्वत सुख या आनन्द व्यक्ति को अपने ही अन्दर से प्राप्त होता है, इसलिए उसमें बाधा डालने का किसी को अधिकार ही नहीं रहता। अशाश्वत व क्षणिक सुखों के लिए यह बात नहीं है, क्योंकि इन सुखों के साधन सीमित हैं। ये सुख जब एक ओर एकत्र होते हैं तो दूसरी ओर कमी पड़ जाती है। अभावग्रस्त व्यक्ति मजबूरावस्था में ईर्ष्या कर बैठता है। अभावग्रस्तता ईर्ष्या की जननी है। इसीलिए आवश्यक यही कि प्रत्येक व्यक्ति शाश्वत सुखों की प्राप्ति के लिए [illegible]।

[illegible]

१९ जुलाई, १९७९

शाश्वत सुख की पृष्ठभूमि

शाश्वत सुख की उपलब्धि के लिए 'वास्तव में सुख क्या है ?' इसकी जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। इसके साथ-साथ सुख का प्रतिद्वन्द्वी दुःख क्या है ?' 'क्यों होता है ?' इसका जानना भी मानव-मन की स्वाभाविक प्रक्रिया है। मानव-मन में सुख की चाह मात्र स्वपरितोष के लिए होती है अथवा उसमें परपरितोष का तत्व भी विद्यमान होता है, यह विचारणीय विषय है। यदि सुख की चाह मात्र स्वपरितुष्टि के लिये है तो व्यक्ति का व्यवहार भिन्न प्रकार का होगा और यदि उस सुख में औरों के सुख का भी मिश्रण है तो फिर व्यक्ति का व्यवहार भिन्न प्रकार का होगा। अब विचारणीय बात यह है कि क्या व्यक्ति का सुख मात्र उसी तक सीमित होना चाहिए या उसके सुख के भागी उसके सम्पर्क में आने वाले अन्य व्यक्ति भी बन सकते हैं ? मानव का यह दृष्टिकोण कि उसका सुख केवल उसके लिए है, संकुचित हृदयता है, तुच्छता है एवं स्वार्थपरायणता की पराकाष्ठा है। 'स्वार्थ-लोलुपता' की भावना बड़ी घातक है। यदि हम केवल अपनी ही चिन्ता करेंगे, दूसरों के सुख की उपेक्षा करेंगे, तो दूसरे भी तो वैसा कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में मानव के सामाजिक जीवन में बड़ी विषमता उत्पन्न हो जायेगी, मानव की मानवता का ह्रास होने लगेगा। मानवता, वास्तव में, इसी में है कि हमारे सुख में दूसरे भी हिस्सेदार हों और हम दूसरों के सुख में हिस्सेदार बनें। आम प्रचलित कहावत :

"राख पत रखाय पत"

अर्थात्—

आप हमारी पत रखो और हम आपकी पत रखेंगे। इसी प्रकार की भावना पारस्परिक सुख के आदान-प्रदान की ओर प्रेरित करती है।

मानव के इस सुख के आदान-प्रदान में मानवजीवन के हित की सुरक्षा भी विद्यमान है। दूसरों का हित सोचोगे तो दूसरे भी तुम्हारा हित सोचेंगे,

तुम दूसरों के हित की उपेक्षा करोगे तो दूसरे भी तुम्हारी उपेक्षा करेंगे। मान देने से मान मिलता है और अधिकतर ही मिलता है। इस संसार में सुख की प्राप्ति 'परस्परभावयन्तः' एक दूसरे की कल्याण-कामना से ही होती है। इस संसार का क्रम ही ऐसा है कि कभी किसी पुरुष की स्थिति एक जैसी नहीं रहा करती। कभी हमें किसी की आवश्यकता रहती है और कभी हमारी किसी को। नीतिकार का कथन है:

"कभी नाव गाड़े में, कभी गाड़ा नाव में"

अर्थात्—

स्थल का मार्ग हो तो नौका को गाड़े में रखकर ले जाना पड़ता है और नदी पार करनी हो तो गाड़े को नौका में रखकर ले जाना पड़ता है।

यह तो समय की बात है कि किस समय किस पर कैसा समय आ जाये। समय एक सरीखा कभी नहीं रहता। तभी तो किसी कवि ने कहा है:

**"सम्मन सत्ता पुरुष की, रहे नहीं इकसार ॥
तृण डूबे पत्थर तिरे, अपनी-अपनी बार ॥"**

अर्थात्—

सम्मन नाम के कवि कहते हैं कि पुरुष की दशा सदा एक-सी नहीं रहती। जब उसके बुरे दिन आते हैं, तो उसके हाथ का तिनका भी पानी में डूब जाता है, उसका भाग्य जो डूबा होता है। जब अच्छे दिन आते हैं तो उसके हाथ का पानी में डाला हुआ पत्थर भी तैरने लगता है। समय-समय की बातें हैं।

रामकथा का प्रसंग इसका प्रमाण है। राम को लंका में पहुँचना था, समुद्र बीच में था। पत्थरों पर राम लिख कर समुद्र में डाला जाने लगा। पत्थर तिरने लग गये, पुल बन गया और राम समुद्र पार कर गये। यदि कोई कहे कि अकेले राम ने यह सब कैसे किया? तो यह कोई बात नहीं, अकेले हों, दो हों, नियम तो सब के लिए समान ही होते हैं। यह तो समय की बात है:

**"तुलसी नर का क्या बड़ा, समय बड़ा बलवान् ।
काबा लूटी गोपिका, वे अर्जुन वे बान ॥"**

[illegible]

[illegible] भी वही किन्तु गोपियों ने मिल-[illegible]

[illegible] में भी एक कथा आती है।

पाण्डवों-पक्ष के राजा पद्मोत्तर ने देवता की सहायता से द्रौपदी को अपने महल में बुलवा लिया था। पाँचों पाण्डव और श्री कृष्ण उसको छुड़ाने के लिए गये थे। श्री कृष्ण ने पाण्डवों से कहा, "तुम [illegible] मैं तटस्थ हो जाता हूँ।" तब पाँचों पाण्डवों ने गर्व कर के कहा, "[illegible] हम यदि हार गये तो आप आ जाना।" पाँचों पाण्डव [illegible] थे। वे अब तक कभी भी किसी से नहीं हारे थे। [illegible] द्रोणाचार्य और भीष्म पितामह जैसे महारथी, [illegible] थे, वहाँ भी विजयश्री पाण्डवों ने प्राप्त की थी। [illegible] पाण्डवों के मुख से यह वचन निकले कि "हम [illegible] हारने के बाद आप आना" [illegible] था। [illegible] भाषा में इस पर एक कहावत है :

"रोवत नाहीं, [illegible]"

श्री कृष्ण ने कहा, "तुम्हारे मुख से ऐसी वाणी निकल रही है कि अब तुम्हारा जाना मैं उचित नहीं समझता हूँ।" पाण्डव तब भी आगे बढ़कर लड़ने लगे। यदि वे अब भी आगे तो पद्मोत्तर उन पाँचों से अधिक शक्तिशाली नहीं था। इसके अतिरिक्त वह तो अपराधी भी था। चाहे हुआ सो हुआ, इसके पैरों के तले से मिट्टी खिसकते देर नहीं लगा करती। किन्तु यह तो मुँह से निकली अविवेकपूर्ण वाणी की बात थी। उसका परिणाम यह हुआ कि पाँचों पाण्डवों को पद्मोत्तर की शक्ति के सामने झुकना पड़ा और मैदान छोड़कर भागना पड़ा। इतने शक्तिशाली पाण्डवों को भी पराजय का मुख देखना पड़ा। यह बात वास्तव में बड़े ही आश्चर्य की है। हम पहले ही इस बात का संकेत कर आये हैं कि समय सदा किसी का एक सरीखा नहीं रहा करता, इसी पर तो किसी कवि की उक्ति है

"नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण"

जैसे रथ के पहिये का वही भाग कभी नीचे और कभी ऊँचे होता रहता है, ठीक इसी प्रकार मनुष्य के भाग्य की दशा है। कभी वह ऊँची चढ़ जाती है और कभी नीचे चली जाती है।

इसी विश्व सत्य को दृष्टि में रखकर हमारे हृदय में सबके प्रति प्रेम की भावना होनी चाहिए, सहानुभूति होनी चाहिए और सद्व्यवहार की सुगन्धि होनी चाहिए। यदि हम बड़े हैं तो हमारा कर्तव्य है कि हम अपने अनुभवों को अपने से छोटों में बाँटें। बड़ों का बड़प्पन इसी में है कि वे छोटों का मार्ग-प्रदर्शन करें। महाभारत के एक प्रसंग में द्रोणाचार्य का कथन है कि कोई भी

व्यक्ति न तो आयु से बड़प्पन प्राप्त कर सकता है और न ही अनेक ग्रंथों के अध्ययन से। उनकी बात सर्वथा उचित प्रतीत होती है। आयु में भीष्म पितामह बड़े थे, शास्त्र-ज्ञान में द्रोणाचार्य बड़े थे, परन्तु युधिष्ठिर उन दोनों से छोटे होते हुए भी, बड़प्पन की दृष्टि से बड़े थे। क्षमा और सहनशीलता की उनमें पराकाष्ठा थी और यही कारण था कि शत्रुपक्ष के लोग भी उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे। युधिष्ठिर अपने पक्ष का समर्थन करते हुए भी शत्रुपक्ष के साथ सद्व्यवहार से पेश आते थे। उनमें यह एक महान गुण था।

हम पहले अपने व्याख्यान में यह कह आये हैं कि हमारा सबके प्रति अच्छा व्यवहार होना चाहिए। पता नहीं हमारे ऊपर किस समय कैसा संकट आ जाये। यदि हमारा व्यवहार भूतकाल में दूसरों के प्रति अच्छा रहा होगा तो निश्चित रूप से दूसरे हमारा संकट में हाथ बँटायेंगे। किसी कवि ने ठीक ही तो लिखा है :

> "निज पेट भरने के लिए तो उद्यमी है श्वान भी।
> पर आज तक पाया कहाँ उसने कहो सम्मान भी॥"

आप कहेंगे कि बहुत-से परिवारों में कुत्तों की भी बड़ी सेवा होते देखी गई है। आपका कथन सत्य है परन्तु जिन कुत्तों का आदर-सम्मान होता है वे विशिष्ट गुण सम्पन्न कुत्ते होते हैं, सामान्य प्रकार से गलियों में आवारा फिरते कुत्तों से वे भिन्न प्रकार के होते हैं। एक ऐसे भी कुत्ते होते हैं कि घर में खाद्य-सामग्री भले ही खुली पड़ी हो, वे उसमें मुंह नहीं डालते, उल्टा उसकी रक्षा करते हैं। एक ऐसे भी होते हैं जो केवल स्वामी के द्वारा दिया गया भोजन ही खाते हैं, दूसरों द्वारा दिया गया नहीं। एक ऐसे भी होते हैं कि स्वामी की जान खतरे में हो तो अपने प्राण न्योछावर कर देते हैं। इस प्रकार हमारा कहने का अभिप्राय यह है कि सामान्य नियम, सामान्य प्राणियों पर लागू होते हैं, विशिष्ट व्यक्ति तो स्वयं ही नियम-स्वरूप होते हैं। इस प्रसंग में हमें भगवान् ऋषभदेव का उदाहरण स्मरण हो आया है। भगवान् ऋषभदेव ने जब दीक्षा ली तो चार हजार राजाओं ने भी उनके साथ दीक्षा ली। तीर्थंकर दीक्षा लेते ही [illegible] की तपस्या प्रारंभ कर देते हैं। तपस्या के पारने का दिन आया। परन्तु गोचरी जाने लगे किन्तु लोग आहार की विधि से परिचित न थे अतः उन्हें एषणिक आहार नहीं दे सके। एक, दो, तीन, चार दिन [illegible] भगवान् से पूछा :

"भगवन्! [illegible] आहार नहीं लेना है, कैसे लेना है और कितने [illegible]?"

भगवान् मौन रहे। परिणाम यह हुआ कि एक-एक करके चेले खिसकने लगे और एक मास के भीतर सभी चार हजार के चार हजार छोड़कर चले गये। बस रह गये, अकेले बाबा जी। चले गये तो चले गये, भगवान् ने अपने मौन के नियम को भंग नहीं किया। भगवान् ने तो अपने चार हजार चेलों की भी परवाह नहीं की किन्तु आजकल तो एक-एक चेले के लिए समाज में क्या-क्या काण्ड होते हैं— यह बात किसी श्रावक से छिपी हुई नहीं है। हमारा कहने का आशय यही है कि सामान्य नियम तो सर्वसाधारण व्यक्तियों पर ही लागू होते हैं, विशिष्ट व्यक्तियों पर नहीं।

हमारा मुख्य विषय, जिसको लेकर हम चले थे, यह था कि हमारे सुख में सबका भाग होना चाहिए। हम जिस कारण से सुखी हैं, उसमें भी तो अनेक व्यक्तियों का सहयोग है फिर हमें ऐसे स्वार्थी कभी नहीं बनना चाहिए कि हमारा सुख स्वकेन्द्रित ही हो। स्वसुख के साथ-साथ परसुख की भावना मानव को अहंकार से और घृणा से मुक्त रखती है। जो लोग मोक्ष के अभिलाषी होते हैं, शाश्वत सुख की जिन्हें चाह है, वे सदा परसुख के सिद्धान्त में आस्था रखते हैं। सम्यक्त्वी का सिद्धान्त सदा सर्वसुख की प्रवृत्ति है। मिथ्यात्वी की विचारधारा, इसके सर्वथा विपरीत होती है। वे तो मात्र यह जानते हैं :

"मैं न म्हारो मोहुलीयो,
दूजो आवे तो फोडूं ताबलियो।"

इस प्रकार की विचारधारा अत्यन्त संकुचित है और मिथ्यादृष्टि से परिपूर्ण है। ऐसे स्वार्थपरायण लोग यह नहीं समझते कि सामूहिक प्रवृत्ति पुण्य-प्रवृत्ति है, इसलिए स्थायी है और व्यष्टि प्रवृत्ति पाप-प्रवृत्ति है और परिणाम में दुःखों की जननी है। संसार का सारा व्यवहार समवाय या सामूहिक प्रवृत्ति से ही चलता है। समवाय का अर्थ है जिसके बिना जो रह न सके। उदाहरण के लिए आप एक मकान को ले लीजिये। मकान में अनेक वस्तुओं का समवाय है। दूसरे शब्दों में मकान में अनेक वस्तुओं का पारस्परिक सम्बन्ध है। प्रत्येक वस्तु के यथास्थान सम्बन्ध से ही मकान का निर्माण होता है। इसीप्रकार वस्त्र-निर्माण में भी ताने और बाने की यथोचित लम्बाई-चौड़ाई का समवाय होगा तभी यथाभिलषित-वस्त्र का निर्माण हो पायेगा। ऐसी स्थिति में किसी मिथ्यादृष्टि की एकान्तवादी विचारधारा को कदापि सिद्धान्त की कोटि में नहीं रखा जा सकता। अनेकान्तवादी विचारधारा ही समवाय के सिद्धान्त की प्रामाणिकता सिद्ध करती है। निज सुख के साथ, परसुख का समवाय या एकीकरण ही शाश्वत सुख की पृष्ठभूमि है।

जैन-भवन, डेह(नागौर) २१ जुलाई, १९७९

●●●

इस प्रकार का सम्यक्त्व मैंने ग्रहण कर लिया है। प्रतिक्रमण में आने वाले सम्यक्त्व का यह विवरण मैंने आपके सामने प्रस्तुत किया। यों व्यवहार-सम्यक्त्व को पहचानने के लिए शास्त्रकारों ने ६७ बोल बताये हैं।

निश्चय-सम्यक्त्व में भी देव, गुरु, धर्म यही तीन तत्त्व होते हैं किन्तु वे दूसरे होते हैं। अभी अपने भरत क्षेत्र में अरिहन्त देव तो विद्यमान हैं नहीं, निर्ग्रन्थ गुरुओं का योग भी हमें सदा नहीं मिल पाता। कभी-कभी विचरण करते हुए आ गये तो धर्म-श्रवण का लाभ मिल जाता है, अन्यथा दैनिक जीवन में उनके दर्शनों और व्याख्यानों से वंचित ही रहना पड़ता है। तीसरे अरिहन्त-भाषित धर्म को भी सही रूप में समझाने वाला व्यक्ति बड़ी कठिनाई से ही मिल पाता है। अरिहन्त-प्रतिपादित धर्म को समझाना भी कोई सरल काम नहीं है। इस प्रकार ये तीनों बातें दूर की हो गई हैं। निश्चय-सम्यक्त्व में तो सारी चीजें सर्वथा पास होनी चाहिए। निश्चय-सम्यक्त्व में हमारा आत्मा ही हमारा देव है। मारवाड़ी भाषा में तो मन को भी देव माना गया है। प्रायः ऐसा होता है कि जैसी बात हमारे मन में होती है वैसी ही हमारे घनिष्ठ व्यक्ति के मन में भी उत्पन्न हो जाया करती है। संभवतः इसी कारण मन को देव की संज्ञा दी गई है। इस पर एक दृष्टान्त स्मरण हो आया है :

एक बुढ़िया अपनी नवयुवती पौत्री के साथ जंगल की पगडंडी पर चल रही थी। जंगल बड़ा भयानक था। अचानक ही एक घुड़सवार पास में से गुजरा। बुढ़िया ने कहा, "अरे भाई यह मेरी पोती है, बेचारी थक गई है, तू इसे अपने घोड़े पर बिठा ले और साथ में इसके वस्त्रों और आभूषणों की गठरी भी रख ले, मैं तो धीरे-धीरे चलती-चलती पहुँच जाऊँगी।" घुड़सवार ने कहा, "न तो मैं इस छोकरी को ही घोड़े पर बैठाऊँगा और न ही इसकी गठरी का भार ही लूँगा।" ऐसा कहकर वह चलता बना। बीस-पच्चीस [illegible] बाद उस घुड़सवार के मन में आया, "आज मैंने बड़ा अच्छा मौका [illegible] दिया। कितनी सुन्दर थी वह नौजवान लड़की और [illegible] आभूषण। ऐसा अवसर क्या रोज-रोज आया करता है! लेकर [illegible] मौज करता, बुढ़िया क्या मुझे पा सकती थी! मेरे घोड़े [illegible]।" इन विचारों के मन में आते ही घुड़सवार [illegible] कि बुढ़िया आयेगी तो मन का मनोरथ पूर्ण होगा। [illegible] बुद्धि पर क्या पत्थर पड़ गये थे कि [illegible] दोनों को घोड़े पर बैठा कर ले जाने [illegible] भी संभालने के लिए कहा। यदि वह [illegible] देखा तो मैं उसको कहाँ ढूंढ[illegible]

निकली, फिर क्या वह मेरे हाथ आने वाला था ? अच्छा ही हुआ जो उसने मना कर दिया। मैं इसको अपने किसी पूर्वजन्म के पुण्य का ही उदय समझती हूँ अन्यथा आज कहीं की भी न रह गई होती।"

इस प्रकार विचार करती हुई वह चली जा रही थी, उसने देखा कि वही घुड़सवार मार्ग में खड़ा है। घुड़सवार ने कहा "आओ माँजी, आओ, मैं इस छोकरी को घोड़े पर बैठा लेता हूँ और सामान का भी इंतजाम लेता हूँ।" बुढ़िया ने घुड़सवार के मन की बात को जानकर कहा "नहीं वीरा, तुमको जिसने कह दिया, उसने मुझे भी कह दिया, अब मुझे लड़की को नहीं बैठाना है।"

अभिप्राय है कि मन देवता है और आत्मा के पास रहने वाला है। आत्मा राजा है और मन उसका प्रधानमन्त्री है। जब आत्मा का प्रधानमन्त्री भी अनुमान से दूसरे के मन की बात को जान सकता है तो क्या हमारा आत्मा छिपी से छिपी आन्तरिक बात को नहीं जान सकता ? कभी-कभी आपको हिचकी आती है। पास में बैठा हुआ व्यक्ति कहता है कि कोई आपको याद कर रहा है। उस समय याद करने वाले व्यक्ति को आनुमानिक शक्ति से आप स्मरण करते हैं तो हिचकी बन्द हो जाती है। मन की गति कितनी रहस्यात्मक है ! एक क्षण में कहीं का कहीं चला जाता है। बेतार के तार के समान है वास्तव में मन की गति। रेडियो और टेलीविजन की तरह यहाँ बैठा हुआ मनुष्य अपनी मानसिक शक्ति से दूर से दूर बैठे हुए व्यक्ति के पास अपने विचारों को सम्प्रेषित कर सकता है। कोई अपना अत्यन्त हितैषी हो, अनन्य मित्र हो या अत्यन्त घनिष्ठ सगा-सम्बन्धी हो, उसका कहीं दूर अहित हो रहा हो या होने वाला हो तो हमारे मन में अनेक प्रकार के चिन्ताजनक विचार उत्पन्न होने लगते हैं। मन उचाट-सा हो जाता है और सर्वत्र शून्य-सा लगने लगता है। कुछ ही समय के बाद हमारे पास सूचना पहुँच जाती है कि हमारे अमुक घनिष्ठ व्यक्ति का अनिष्ट हो गया। ऐसी है मन की शक्ति, इसीलिए मन को देव माना गया है। जब मन देव है तो उसका राजा आत्मा देव कैसे नहीं होगा !

आत्मा तो देवाधिदेव है, भगवान् है। भगवान् का दूसरा नाम ही तो परमात्मा है। परम अर्थात् उत्कृष्ट जिससे बढ़कर आत्मा की कोई ऊंची स्थिति न हो। इस उच्च अवस्था को पहुँचा हुआ आत्मा ही परमात्मा होता है। ऐसा शुद्ध, सर्वज्ञ, परमात्मा व्यवहार सम्यक्त्व में देव माना जाता है। परन्तु निश्चय-सम्यक्त्व के अनुसार तो जैसा शुद्धातिशुद्ध स्वरूप परमात्मा का है वैसा ही स्वरूप हमारे आत्मा का भी माना जाता है। आत्मा के अपने सहज स्वरूप में पहुँचने के पश्चात् आत्मा और परमात्मा का अन्तर समाप्त हो जाता

१५

नवतत्त्व-विवेचन और तपश्चर्या

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के पश्चात् ही शाश्वत सुखों की प्राप्ति होती है, ऐसा हमने अनेक बार आपको समझा रखा है। 'सम्यग्दर्शन' शब्द सम्यक् और दर्शन इन दो शब्दों के मेल से बनता है। सम्यग्दर्शन का अर्थ है 'अच्छा दृष्टिकोण'। या ठीक प्रकार की समझने की, देखने की प्रक्रिया। शास्त्र के अनुसार :

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"

तत्त्वार्थ का श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन होता है। जिसका कार्य तो सामने हो किन्तु कारण परोक्ष हो, वह तत्त्व है। इस भाव को और स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि जो क्रियाएं हो रही हैं वे तो हमारे सामने हैं परन्तु वे क्रियाएं जिससे जन्म लेती हैं वह परोक्ष में है। तत् यानी वह, त्व यानी पन। 'त्व' प्रत्यय संस्कृत में 'भाव' अर्थ को प्रकट करने के लिए होता है। संक्षेप में वस्तुमात्र या पदार्थमात्र के भाव या सार को 'तत्त्व' कहा जा सकता है। प्रत्यक्ष में हम जो कुछ देख रहे हैं, वह सार नहीं है। सार तो परोक्ष में है एवं सार का विस्तार ही प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। दूसरे शब्दों में परोक्ष मूल है एवं प्रत्यक्ष वृक्ष। प्रत्यक्ष में हम जिन-जिन क्रियाओं को देख रहे हैं, उन सब का करने वाला जीव है जो प्रत्यक्ष रूप में दिखाई नहीं देता। इसीलिए शास्त्रकारों ने परोक्षवर्ती चीजों को समझाने के लिए 'तत्त्व' शब्द का प्रयोग किया है।

पहला तत्त्व जीव है। जीव शब्द बड़ा ही व्यापक है। संसार में जीव अनन्त योनियों में उत्पन्न होता रहता है और मरता रहता है, ऐसा लोक-व्यवहार में कहा जाता है किन्तु वास्तव में जीव तो अजर-अमर और अविनाशी है। तभी तो गीता में कहा गया है :

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि,
नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो,
न शोषयति मारुतः ॥

गीता, २/२३.

अर्थात्—

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि इसको जला नहीं सकती, जल इसको गीला नहीं कर सकता और वायु इसका शोषण नहीं कर सकता। आत्मा अविनाशी है और अपने स्वरूप से सदा अवस्थित-रूप है।

इस आकाश में अनन्तानन्त जीव ठसाठस भरे पड़े हैं। जीव हमें दृष्टि-गोचर तभी होते हैं, जब वे किसी न किसी शरीर-विशेष का आश्रय ले लेते हैं। इनमें से कुछ को तो, जिनका शरीर स्थूल है, हमारी आँखें देखने में समर्थ हैं किन्तु जो अतिसूक्ष्म हैं उन्हें हम देख नहीं पाते। शास्त्रकारों ने ऐसे शरीरों को तैजस् और कार्मण के नामों से पुकारा है।

"औदारिकवैक्रियकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि"

अर्थात्—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण—इन पाँच प्रकार के शरीरों का अवलम्बन लेकर जीव संसार में परिभ्रमण करता है। सदा के लिए शरीर से मुक्ति उसकी 'मुक्तदशा' कहलाती है।

सामान्यरूप से संसारी जीव को चार भागों में विभक्त किया गया है: (१) मनुष्य, (२) तिर्यंच, (३) देव, (४) नारक। यह जीव कहाँ-कहाँ रहता है, क्या-क्या करता है, इसकी संख्या कितनी है—आदि-आदि बातों का बड़ा विस्तृत विवरण दिया है जैनशास्त्रों में। यहाँ तो हमको केवल इतना ही जानना है कि चलते-फिरते, खाते-पीते, बोलते, सोचते, समझते आदि जो भी दिखाई देते हैं वे सब जीव हैं। अपनी इन्द्रियों के द्वारा हमको उनका प्रत्यक्षी-करण हो रहा है।

दूसरा तत्त्व 'अजीव' है जिसे जड़ भी कहते हैं। इसमें स्वयं चलने-फिरने की कोई शक्ति नहीं होती किन्तु वह हमारी इन्द्रियों के द्वारा किसी न किसी रूप में अवश्य पहचानी जाती है। कर्ण-इन्द्रिय के द्वारा शब्द प्रत्यक्ष हो जाता है। यों शब्द को न तो हम पकड़ ही सकते हैं और न देख ही सकते हैं, किन्तु कानों से जब शब्द टकराता है तो उसका बोध हो जाता है। वैज्ञानिक आविष्कारों के माध्यम (रेडियो आदि) से हम दूरातिदूर सञ्चारित ध्वनि को भी सुन लेते हैं। किसी भी व्यक्ति द्वारा उच्चारित शब्दों को हम टेपरिकॉर्डर में भर लेते हैं और इच्छानुसार जब चाहें उसके सुनने का आनन्द

हो सकते हैं। आँखों के द्वारा हम सब प्रकार के रंगों—लाल, नीला, काला, पीला आदि को तथा मिश्रित रंगों को देखते हैं। घ्राणेन्द्रिय द्वारा सब प्रकार की गन्ध का हमें अनुभव होता है। जिह्वा हमें सब प्रकार के रसों का ज्ञान कराती है। खट्टे, मीठे, कसैले, चरपरे, कड़वे आदि वस्तु का भेद हमें जिह्वा तुरन्त करा देती है। स्पर्शेन्द्रिय द्वारा स्पर्श का यथाज्ञान हो जाता है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द—ये इन्द्रियविषय हैं। इनका विस्तृत विवरण यहाँ देना संभव नहीं है। यह तो हुई इन्द्रियगोचर पदार्थों के सम्बन्ध में किंचित् चर्चा। इनके अतिरिक्त लोक में गतिमान, स्थितिमान व अस्तित्व रखने वाली वस्तुओं के लिए सहायभूत कुछ ऐसी भी शक्तियाँ हैं जो कि सब इन्द्रियातीत हैं। इन्द्रियगोचर एवं इन्द्रियातीत इन सब जड़पदार्थों का जिसमें समावेश हो जाता है, उसका नाम है 'अजीव'। इस वैज्ञानिक युग में वैज्ञानिकों ने अजीव पदार्थों का भी सजीव पदार्थों के समान उपयोग कर दिखाया है। अन्तर केवल इतना है कि वैज्ञानिक उन-उन पदार्थों में प्राण नहीं डाल सके हैं। उसके अजीवत्व को सजीवत्व में परिवर्तित नहीं कर सके हैं। अजीव की अजीव रूप में स्वतन्त्र सत्ता है जो अविनाशी है और अमिट है। संसार में हमारे समक्ष जो कुछ भी अभिनय हो रहा है वह सब अजीव तत्त्व की ही क्रिया है।

हम किसी को रूपवान देखते हैं, किसी के स्वर में माधुर्य पाते हैं, किसी के व्यक्तित्व में और किसी के शरीर में जो आकर्षण पाते हैं, उन सबका नेतृत्व करने वाला पुण्य होता है। या दूसरे शब्दों में पुण्य के प्रताप से ही उक्त गुणों की प्राप्ति होती है। इसी का नाम पुण्य तत्त्व है। जो व्यक्ति हमें अनिष्ट लग रहा है, भद्दा लग रहा है, आकर्षणहीन लग रहा है, असन्तुष्ट और दुःखों से व्याकुल प्रतीत हो रहा है, उन सब दुर्गुणों का संचालन पाप द्वारा होता है। यह पाप भी एक तत्त्व है।

विश्व में अनेक स्थानों पर अनेक काम हो रहे हैं जिनके विषय में हम जानते हैं, सुनते हैं। विश्व में जितनी भी प्रवृत्तियाँ चल रही हैं उनमें कुछ हमें अच्छी लगती हैं और कुछ बुरी। कुछ के प्रति हम उदासीन रहते हैं, न हम उनको हेय कहते हैं और न ही उपादेय। उनका त्याग न करने के कारण, अवसर आने पर कभी हम उनमें प्रवृत्त भी हो जाते हैं। त्याग के अभाव में उन प्रवृत्तियों से होने वाली क्रियाओं से हम व्यर्थ ही लिप्त हो जाते हैं। इन सब क्रियाओं का नेतृत्व करने वाला तत्त्व आस्रव कहलाता है। संसार के संचरणशील कार्यों के प्रति हमारा सम्बन्ध चाहे डाइरेक्ट हो, चाहे इंडाइरेक्ट, उन सबका नियन्त्रण करने वाला 'आस्रव' तत्त्व है।

संसार में ऐसे भी अनेक काम हैं, अनेक वस्तुएँ हैं जिनका न तो कभी

हमारे जीवन में उपयोग हुआ है और न ही होने की सम्भावना है। उनसे हम हमारा सम्बन्ध विच्छेद कर देते हैं और उनका त्याग भी कर देते हैं। अपनी सम्पूर्ण इच्छाओं को मर्यादित कर लेते है, रोक लेते है और इस कारण उन कामों के प्रति और वस्तुओं के प्रति हमारा लगाव समाप्त हो जाता है। लगाव के समाप्त होते ही लगाव से होने वाला कर्मास्रव रुक जाता है। कर्मास्रव के रुक जाने से हमारी आत्मा कर्मास्रव के भार से बोझिल नहीं हो पाती और उसका अधोगति में जाने का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। वस्तुतत्त्व को समझने वाले व्यक्ति, इस इच्छानिरोध को बहुत बड़ा महत्त्व देते हैं। हमारे प्राचीन आचार्यों ने तो इस 'इच्छानिरोध' को एक बहुत बड़ा तप माना है :

"इच्छानिरोधस्तपः"

अर्थात्—इच्छाओं का निरोध करना तप है।

इस तप के द्वारा केवल कर्मास्रव ही नहीं रुकता किन्तु पूर्वबद्ध-कर्मों की भी निर्जरा हो जाती है।

"तपसा निर्जरा च"

उमास्वाति ने उक्त वचन से इसी सत्य की पुष्टि की है। और यह भी कहा है कि इच्छा-निरोध नाम का तप संवर और निर्जरा का कारण है।

कुछ व्यक्ति संसार में ऐसे भी होते हैं जो आशावादी बने रहना अधिक पसन्द करते हैं। 'जिस वस्तु का वर्तमान में उन्हें योग नहीं मिला वह कभी न कभी अवश्य प्राप्त होगी' ऐसा सोचकर वे उनके प्रति आशावान बने रहते हैं; किन्तु आशा का गड्ढा इतना विशाल है कि जिसकी पूर्ति त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है। कोई भी संसार का व्यक्ति इससे मुक्त नहीं है। नीतिकार कहते हैं :

आशागर्तः प्रतिप्राणि,
यस्मिन् विश्वमणूपमम्।

अर्थात्—हर एक प्राणी अपने अन्दर आशाओं का संसार बटोरे बैठा है, ऐसा संसार कि जिसकी पूर्ति कदापि सम्भव नहीं है। आशाओं के महासागर में यह सारा संसार एक छोटे-से अणु के समान प्रतीत होता है। किसी विद्वान् ने आशा का नदी के रूप में बड़ा ही सुन्दर रूपक बाँधा है :

कभी समाप्त नहीं होगा। जिसने संवरण कर लिया, नवीन कर्मास्रव को रोक दिया है, उसका भोग निराले ही ढंग का होगा, उसे तो नया भोग करने की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी।

कर्मप्रकृतियां उदय में आकर अपना फल दे देती हैं और तत्पश्चात् वे आत्मा के साथ चिपटी नहीं रहतीं। चिपटे रहने की स्थिति भी तभी तक बनी रहती है जब तक शक्ति का सद्भाव रहता है, शक्ति के नष्ट होते ही आत्मा के साथ एकाकार होकर रहना सम्भव नहीं होता। भोगी हुई कर्मवर्गणाएं और कर्मप्रकृतियाँ जब अलग-अलग होने लगती हैं, तो आत्मा शुद्ध होता जाता है, उत्तरोत्तर पवित्र बनता जाता है और आत्मिक तेज बढ़ने लगता है। इस कर्मक्षय में जो तत्त्व काम करता है उसे निर्जरा कहते हैं। कर्मक्षय का संचालन और तन्त्र चलाने वाला यही 'निर्जरा' नाम का तत्त्व है।

इस निर्जरा नाम के तत्त्व के भी अनेक भेद हैं। दूसरे शब्दों में कर्म-वर्गणाओं को आत्मा से अलग करने के अनेक प्रकार हैं। इनमें पहला प्रकार है 'अनशन'। अनशन को सामान्य भाषा में तपश्चर्या कहते हैं। तपश्चर्या का आरम्भ नवकारसी से होता है। इसके बाद पोरसी और डेढ़ पोरसी के पचक्खान आते हैं। पोरसी से डेढ़ पोरसी तक के पचक्खाण एक हैं, फिर दो पोरसी, ढाई पोरसी एवं तीन पोरसी तक के पचक्खाण लगभग एक-से हैं। इसके पश्चात् तप की मात्रा बढ़ती जाती है। अनशन का अर्थ है, उपवास। सामान्य रूप से उपवास का अर्थ 'एक दिन की क्षुधा का समभाव-पूर्वक सहन कर लेना' समझा जाता है किन्तु उपवास का वास्तविक अर्थ कुछ और ही है। 'उप' यानी समीप, 'वास' यानी रहना, अर्थात् पास में रहना। किसी व्यक्ति-विशेष के पास नहीं किन्तु आत्मा के पास रहना। खाना-पीना, ओढ़ना-पहनना, शृंगार-प्रसाधन, विषय-कषाय आदि सभी से दूर रहकर आत्मा के पास रहना। खाने-पीने आदि की क्रियाओं को करने वाला व्यक्ति आत्मा से दूर रहता है। आत्मा का मार्ग पृथक् है और शरीर का पृथक् है। यद्यपि दोनों का निवास एक स्थान पर है किन्तु दोनों का धर्म अलग-अलग है। शरीर का पोषण भिन्न प्रकार की क्रियाओं से होता है और आत्मा का पोषण अलग ही प्रकार के कार्यों से होता है। जिन कार्यों से आत्मा का पोषण होता है उन्हीं कार्यों से शरीर का शोषण होता है, जिन कार्यों से आत्मा को बल मिलता है, शान्ति मिलती है, विश्राम मिलता है, ज्ञान, ध्यान और समाधि में अधिकाधिक चित्त लगाने का अवसर मिलता है, उन्हीं कार्यों से शरीर को क्लेश मिलता है, और शरीर में दुर्बलता आ जाती है। आत्मा चैतन्य है, शरीर जड़ है। चैतन्य का स्वभाव अलग है और जड़ का अलग। चैतन्य ऊर्ध्वगामी है और जड़ अधोगामी है। जिन बातों से एक का

पोषण होता है, उन्हीं से दूसरे का पोषण। दोनों की दिशा भी अलग है और कार्य भी अलग है। पहले कहा गया है 'तपसा निर्जरा च' अर्थात्, तपश्चरण से संवर और निर्जरा दोनों ही होते हैं। आते हुए कर्म रुक जाते हैं और बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा हो जाती है। क्रम-क्रम से कर्मवर्गणाओं का क्षय हो जाता है और फलस्वरूप आत्मा उत्तरोत्तर विशुद्ध होता चला जाता है। अधिकाधिक कर्मों की निर्जरा होने से आत्म-परिणाम विशुद्ध से विशुद्धतर होते चले जाते हैं। जब सम्यक्त्व के कारण तपश्चर्या में वृद्धि होती है तो उत्तरोत्तर भावना शुभ और शुद्ध की ओर बढ़ने लगती है। जिसने दो दिन का लगातार उपवास किया है उसे पाँच उपवास का फल मिलता है। तीन दिन के तेले का तपश्चरण करने वाले को पाँच गुने के हिसाब से फल मिलता है। अर्थात्-पच्चीस उपवासों का उसे फल मिलता है। इसी प्रकार पाँच दिन का 'पचोला' करने वाले व्यक्ति को १२५×५=६२५ उपवासों का फल मिलता है। एक साथ छह करने वाले को ६२५×५=३१२५ उपवासों का फल मिलेगा। सात की एक साथ तपस्या की तो ३१२५×५=१५६२५ उपवासों का लाभ होगा। इस प्रकार अन्त तक पाँच गुने का हिसाब करते जाओ, लाभ बढ़ता ही जायेगा। हमें यहाँ भी ज्ञातव्य है कि जितनी तपश्चर्या की जाती है, उसके पारणे के दिन, एक पोरसी की, तो जितने उपवास के दिन बीते हैं उतने ही उपवास का लाभ उसे उस पारणा वाली एक पोरसी करने से मिलेगा। किसी भी आत्मा को उसकी उन्नत अवस्था में लाने वाला जो तत्त्व है वह निर्जरा तत्त्व है। आत्मा की कर्मों से निर्जरा होते ही आत्मा स्वभाव में स्थित हो जाता है, मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है।

कुल तत्त्वों की संख्या नौ है, जिनका संक्षिप्त परिचय आपके सामने प्रस्तुत किया गया है। इन तत्त्वों में दृढ़ श्रद्धा रखना, दृढ़ विश्वास रखना सम्यग्दर्शन कहलाता है। इन नव तत्त्वों में जो तत्त्व त्यागने योग्य हैं, उनका त्याग करना चाहिए और जो ग्राह्य हैं, उनको ग्रहण करना चाहिए। यदि इन नव तत्त्वों के प्रति हमारे मन में श्रद्धा का अभाव है, विश्वास का अभाव है तो बड़ा से बड़ा ज्ञान प्राप्त करके भी हम मिथ्यादृष्टि ही रह जायेंगे। सम्यग्-ज्ञान की प्राप्ति के लिए नवतत्त्वों का गंभीर चिन्तन, मनन और उनमें से हेय का त्याग और उपादेय का ग्रहण परमावश्यक है।

शाश्वत सुखों की प्राप्ति सम्यग्दर्शन से ही संभव है और सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नवतत्त्वों के ज्ञान पर आधारित है। इसलिए यदि जीवन में सुख और शान्ति प्राप्त करना चाहते हो तो नवतत्त्व के ज्ञान के माध्यम से सम्यग्दृष्टि बनो।

जैन-भवन, केकड़ (नागौर) २३ जुलाई, १९७९

OO

१६

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व-विवेचन

सांसारिक या भौतिक सुखों एवं क्षणिक आकर्षणों में खोए हुए मानव को सचेत करते हुए यदि यह कहा जाये, 'अय मानव ! जिन सुखों को तुम शाश्वत सुख मान रहे हो वे वास्तव में शाश्वत नहीं हैं, जिनको तुमने सत्य समझ रखा है वे कपटमय हैं, माया हैं' तो वह इस प्रकार के प्रशिक्षण को कोरा प्रलाप और पागलपन समझता है। परन्तु ज्ञान के निधि, तत्त्वचिन्तकों का बार-बार यही कहना है कि सारा संसार, शरीर और भौतिक ऐश्वर्य सब नश्वर—नाशवान हैं। इनमें ही लीन रहने वाला मानव मृगतृष्णा में भाग रहा है और परिणाम-स्वरूप भटक कर अपना विनाश कर रहा है। भौतिक सुखों का आकर्षण इतना प्रभावशाली है कि अज्ञानी जीव अनायास ही उनमें फंस जाता है और पाप का अर्जन करता है। कषायों (क्रोध, मान, माया और लोभ) के बन्धन में उलझा हुआ जीव अनादि काल से चौरासी के चक्कर में भटक रहा है। मिथ्यात्व तथा मोह से विमुग्ध जीव सांसारिक सुखों में ठीक उसी प्रकार आनन्द का अनुभव किया करता है, जैसे गोबर का कीड़ा गोबर में और मल का कीड़ा मैले में। शास्त्रकार सदा से मानव को सचेत करते आये हैं और प्रेरणा देते आये हैं कि उसको संसार के सुखों को त्यागकर, राग-द्वेष के बन्धनों को काटकर और मिथ्यात्व के अन्धकार से मुक्ति पाकर सम्यक्त्व के प्रकाश की ओर बढ़ना चाहिए। सम्यक्त्व मानव के गन्तव्य का पथ है और उसको अनन्त-शाश्वत-सुख की प्राप्ति इसी पथ पर चलने से मिल सकती है। फिर भी यदि अज्ञानवश मानव उस सत्य की उपेक्षा करता है तो इसमें वीतरागों का या शास्त्रकारों का क्या दोष है ?

सम्यक्त्व का विरोधी शब्द है, मिथ्यात्व। इन दोनों की अनादिकाल से तीन और छह के अंक की तरह विमुखता रही है। जहां सम्यक्त्व की सत्ता है वहां मिथ्यात्व नहीं टिक सकता, ठीक वैसे ही जैसे प्रकाश के सद्भाव में अन्धकार का अस्तित्व संभव नहीं है। मिथ्यात्व आत्मा का निजी गुण नहीं है

फिर भी वह तो बिना निमन्त्रण के अतिथि के समान आत्मप्रदेशों में छा जाता है। सम्यक्त्व की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न प्रकार की है। बिना बुलाये आने की तो बात दूर रही वह तो प्रयत्न करने पर और साधना करने पर भी बड़ी कठिनाई से आ पाता है। सम्यक्त्व एक प्रकार का प्रकाश है जिसकी उपलब्धि के लिए गहरी खोज करनी पड़ती है। जो खोजी हैं वे तो आध्यात्मिक तत्त्व की गहराई में पहुंच, उसे पाते ही हैं। तभी तो किसी ने कहा है'

"जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ"

इस सम्यक्त्व की प्राप्ति का पहला कदम सम्यक्त्व की वास्तविकता को समझना है और दूसरा कदम है सम्यक्त्व को ग्रहण करना या जीवन में उतारना। मिथ्यात्व को जीवन से सर्वथा निकाल देने पर ही सम्यक्त्व का ग्रहण संभव है।

शास्त्रकारों ने किसी भी बात को सर्वांगीण रूप से समझने के लिए दो मार्गों का निर्देश किया है। पहला मार्ग यह है कि जिस वस्तु या तत्त्व को आप समझना चाहते हैं उसके विरोधी तत्त्व का ज्ञान आपको होना चाहिए। दूसरे शब्दों में सम्यक्त्व को जानने के लिए मिथ्यात्व को समझना परमावश्यक है। हम आपको मिथ्यात्व के स्वरूप को बताकर मिथ्यात्व के आचरण की शिक्षा नहीं दे रहे हैं, हम तो मिथ्यात्व की रूपरेखा आपके सामने इसलिए प्रस्तुत कर रहे हैं कि बिना मिथ्यात्व के ज्ञान के आपको सम्यक्त्व का सही स्वरूप समझ में नहीं आ सकेगा। इसके विपरीत मिथ्यात्व के स्वरूप का ज्ञान होने पर सत्यासत्य का निर्णय भी आप स्वयं बड़ी सरलता से कर सकेंगे। विष और अमृत दो पदार्थ हैं। अमृत का ज्ञान तो आपको होना ही चाहिए क्योंकि वह अमरता प्रदान करता है परन्तु उसके साथ-साथ आपको विष का भी ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है क्योंकि विष का ज्ञान होने से आप अपने को उससे बचा सकेंगे। संसार में अनेक प्रकार के खाद्यपदार्थ हैं, जब तक आपको उनके स्वाद और गुण-दोष का पता नहीं होगा तब तक आप यह निर्णय कैसे कर सकेंगे कि अमुक पदार्थ ग्राह्य है और अमुक त्याज्य है। इसीलिए हमने आपको कहा कि सम्यक्त्व के सही ज्ञान के लिए हमें उसके विरोधी तत्त्व मिथ्यात्व का भी ज्ञान होना चाहिए। मिथ्यात्व के ज्ञान से आपको भली प्रकार पता चल जायेगा कि अमुक प्रकार का विचार या पदार्थ मिथ्यात्व के घेरे में आता है, अतः उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिए और अमुक विचार सम्यक्त्व की ओर प्रेरणा देने वाला है, अतः उसको जीवन में उतारना चाहिए।

अनादि काल से जो हमारे स्वभाव का एक अंग बनकर हमारे साथ चिपका

हुआ है और हमें जन्म-मरण के चक्कर में भटका रहा है। यह मिथ्यात्व है। तीव्र राग और द्वेष भी मिथ्यात्व के दूसरे नाम हैं। यह राग-द्वेष की शृंखला भी अनादिकाल से जीव के साथ जुड़ी हुई है जो मिथ्यात्व को जन्म देने वाली है तथा इसे उत्तरोत्तर बढ़ाने वाली है। मिथ्यात्व के साथ कषायों का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है।

प्रसंगानुकूल होने से यहाँ थोड़ा प्रकाश 'कषाय' शब्द पर भी डालना आवश्यक है। कषाय शब्द का निर्माण दो शब्दों की सन्धि से होता है: कष+आय। लोक भाषा में मूर्धन्य 'ष' का दन्त्य 'स' बन जाना एक सामान्य बात है जैसे कृष्ण का किसन और भाषा का भासा। लोक में कस का प्रचलित अर्थ है—सार। कंचन और कामिनी को ही जगत् में सारभूत माना जाता है। किन्तु वास्तव में ये दोनों, लोभ और वासना के पोषक होने के कारण, निस्सार हैं—सारहीन हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि कस शब्द सारहीनता का द्योतक है। आय का अर्थ आप जानते ही हैं, आमदनी होता है। तो कषाय का अर्थ हुआ सारहीनता की वृद्धि करने वाला। यह सारा का सारा संसार सारहीनता का ही तो जीता-जागता रूप है। संस्कृत में संसार का अर्थ संसरण-परिभ्रमण करना है, जाना और आना है। यह जाना-आना, आवागमन किसी उद्देश्य से नहीं किन्तु निरुद्देश्य है। जीवों को कोई दिशा ज्ञान नहीं होता और न ही कोई मंजिल ही उनके लक्ष्य में होती है। संसारी जीव मात्र भटकते रहते हैं ठीक वैसे ही जैसे वस्त्र से जल को छानते समय जल के जीव नीचे-ऊपर, दायें-बायें निरुद्देश्य बिलबिलाया करते हैं। जन्म-मरण, कभी इस योनि में, कभी दूसरी में, कभी नरक, कभी तिर्यंच, कभी मनुष्य और कभी देवगति में भटकने को ही संसार कहते हैं। जन्म-मरण की वृद्धि संसार की वृद्धि है और जन्म-मरण की कमी संसार का ह्रास है।

जिनके कारण से संसार का प्रवाह चल रहा है, जन्म-मरण की शृंखला प्रगतिशील है और आवागमन का उत्तरोत्तर विकास होता चला जा रहा है, उनको कषाय कहा जाता है। उन कषायों की संख्या चार हैं: क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारों कषाय आत्मा को आवागमन के लिए शक्ति भी प्रदान करते हैं और प्रेरणा भी। इन चारों कषायों के बढ़ने से आत्मा का आवागमन घटता है। क्रोध के मन्द पड़ने से क्षमा की भावना प्रतिष्ठित होती है; मान को कम करने से आत्मा में विनय का गुण उजागर होता है; मान नामक कषाय की मन्दता के आने से आत्म-प्रदेशों में विनम्रता छा जाती है; माया-कषाय की मन्दता से-न्यूनता से आत्मा में सरलता का गुण उत्पन्न हो जाता है और कपट की प्रवृत्ति निवृत्त हो जाती है। इस प्रकार इन तीनों योगों में एकरूपता आ जाती है। दूसरे शब्दों में मन में उद्भूत भावना, वाणी द्वारा

अभिव्यक्त शब्द और काया द्वारा अनुष्ठित कर्म—इन तीनों में समरूपता प्रकट हो जाती है। ऐसी स्थिति में आत्मा मात्र आत्मा न रहकर 'महात्मा' के पद को प्राप्त करता है। उस महात्मा का लक्षण करते हुए ही किसी मनीषी ने लिखा है :

"मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्"

अर्थात्—

महात्मा लोग तो मन से, वाणी से और कर्म से एकरूप होते हैं। दूसरे शब्दों में उनके जो मन में होता है, वही वाणी में अभिव्यक्त होता है और जो वाणी में अभिव्यक्त होता है, वही कार्यरूप में परिणत होता है।

यहाँ 'महात्मा' शब्द से हमारा अभिप्राय भिन्न-भिन्न वेशधारी साधुओं से नहीं है किन्तु महात्मा का यहाँ अर्थ है 'वह व्यक्ति जो अपनी आत्मा को मन, वचन और काया की एकरूपता से उत्तरोत्तर उन्नत बनाता है।' उदाहरण के लिए एक तीन हाथ लम्बी लकड़ी है। हम उसे एक आंख से सीधा करके देखें तो वह अपने आदि, मध्य और अन्त तक के रूप में सर्वथा सीधी दिखाई देगी। हम उसे कहेंगे सरल यष्टि या सीधी लकड़ी। उतनी ही लम्बी किन्तु बांकी एक दूसरी लकड़ी को उसी प्रक्रिया से हम देखेंगे तो वह आदि, मध्य और अन्त में वक्रता लिए दिखाई देगी। तो हमारे प्रिय श्रोताओ! हम भी सभी तीन हाथ की लम्बी इस शरीर रूपी लकड़ी को धारण करने वाले हैं। यदि शरीर में मन, वचन और काया के योग समरूप हैं तो हम जैसा सोचते हैं, वैसा ही कहते भी हैं और जैसा कहते हैं वैसा ही आचरण भी करते हैं। ऐसा हम इसलिए कर पाते हैं कि हमारे में नम्रता, निरभिमानता और निष्कपटता जैसे गुणों की विद्यमानता रहती है। इन गुणों का हमारी वेशभूषा, खानपान, रहन-सहन और सामाजिक रीति-रिवाजों से कोई सम्बन्ध नहीं है, इनका सम्बन्ध तो चेतन से है। यदि हमारे मन, वचन और काया—तीनों आत्मा में एकाकार हो चुके हैं तो हम निश्चय ही महात्मा की कोटि में आ जायेंगे। अन्यथा यदि :

"मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम्"

हमारे मन में कुछ और है, वचन में मन से भिन्न वस्तु है और कर्म में दोनों से भिन्न है तो हमारी गणना दुरात्माओं में होगी।

कषायों में चौथा स्थान है लोभ का। निरन्तर बढ़ने वाली तृष्णा या लालच को लोभ कहते हैं। किसी कवि ने ठीक ही कहा है :

"लोभ लाय लागी अति, भूल्यो जिनराज को।"

नहीं है। क्रोध के आने की स्थिति को 'उदय' कहते हैं और क्रोध के शान्त होने की अवस्था को 'उपशम' कहते हैं। उदय और उपशम इन दो शब्दों के वास्तविक अर्थ को समझने के लिए शास्त्रकारों ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। मिट्टी से घुले-मिले पानी को गन्दा पानी कहते हैं। मिट्टी के मिश्रण के कारण वह पानी मिट्टी के रंग का दिखाई देता है। गन्दे पानी के गन्दलेपन की स्थिति को हम उदय स्थिति कह सकते हैं। ठीक इसी प्रकार क्रोध नाम का विकार मानसिक स्थिति से गुजरता हुआ मन और वचन में घुलता-मिलता, काया में अभिव्यक्त होता है। मनुष्य को जब क्रोध आता है तो उसके शरीर में क्रोध के सारे चिह्न प्रकट हो जाते हैं। ओठों में फड़फड़ाहट आरम्भ हो जाती है, आंखें लाल हो जाती हैं और नसों में रक्त का प्रवाह तीव्र गति पकड़ जाता है। क्रोधी व्यक्ति सामने आने वाले प्रतिपक्षी को चुनौती देने लगता है। यह क्रोध का जागृत रूप है। क्रोध मन में आया तो मन को विकृत किया, वाणी में अभिव्यक्त हुआ तो अपशब्द निकलने लगे और शरीर में संचरित हुआ तो शरीर की सारी चेष्टाएँ ही विकृत रूप में सामने आईं। इसी को क्रोध की उदय स्थिति कहते हैं। अपने उदय की स्थिति में क्रोध ने मन, वचन और काया इन तीनों की स्वच्छता, पवित्रता और निर्दोषता नष्ट कर दी और उनको गन्दा और अपवित्र बना दिया।

शास्त्रकारों ने क्रोध की तुलना अग्नि से की है। पानी को चूल्हे पर रख-कर नीचे आग जला दी जाती है। आग की गरमी से जल अधिकाधिक गर्म होता हुआ अन्त में उबलने लगता है। उबलने की स्थिति में नीचे के परमाणु ऊपर और ऊपर के नीचे जाने लगते हैं। ठीक इसी प्रकार क्रोध नाम की अग्नि की गर्मी से मनुष्य के मन, वचन और काया तीनों उबलने लगते हैं। यही कारण है कि क्रोधी मनुष्य को देखकर लोग सहसा कहने लगते हैं "इसे तो आज बहुत उबाल आ गया है।" क्रोध की यह उदय स्थिति अच्छी नहीं होती क्योंकि इसमें वह विवेकशून्य और हिंसक बन जाता है।

पानी अपने वास्तविक स्वरूप में स्फटिक के समान अत्यन्त स्वच्छ और निर्मल होता है परन्तु मिट्टी के मिश्रण से वह गन्दला हो जाता है। यही पानी के विकार की उदय स्थिति है। यदि गन्दे पानी के पात्र को कुछ समय तक निश्चल अवस्था में रखा जाये तो उसके रजकण नीचे बैठते जाते हैं और पानी उत्तरोत्तर स्वच्छ होता जाता है। जो कण पानी को गन्दला कर रहे थे वे पानी से बाहर नहीं निकले हैं, केवल नीचे जाकर जम गये हैं। रजकणों के नीचे जमने की यही अवस्था जल के विकार की उपशम अवस्था है। अब यदि उस स्वच्छ जल को किसी अन्य बर्तन में निकाल लिया जाये और उसमें जमे धूल कणों को दूर फेंक दिया जाये, तो जल को अनेक प्रकार से हिलाने-

डुबाने से भी वह पुनरित नहीं हो पायगा किन्तु स्वच्छ बना रहेगा। वह अपनी वास्तविक पवित्र स्थिति में स्थित हो जायेगा। ठीक उस जैसी स्थिति आत्मा की भी है। यदि हम अपने आत्मा को उसकी विशुद्ध स्थिति में रखना चाहते हैं तो हमारा कर्तव्य है कि हम रजकणों के समान कषायों को दूर फेंक कर उसमें स्थिरता लायें। इसके लिए हम जितना शांत, अक्रोध और निश्चल रहेंगे उतनी ही हमारी अन्दर की अवस्था शान्त बनेगी। दूषित मन, वचन, काय शान्त बन जायेंगे और आत्मा में विकृति पैदा करने वाले परमाणु नष्ट हो जायेंगे। परिणामस्वरूप आत्मा अपने वास्तविक स्वच्छ स्वरूप में ऊर्ध्वगति होगा।

हम क्रोध की चर्चा करते आ रहे हैं। क्रोध नाम का कषाय अपनी उदयावस्था में और उपशम अवस्था में विद्यमान तो रहता ही है। उदयावस्था में तो वह अपने मध्याह्नकाल में स्थित होता है, उपशम अवस्था में वह मात्र दब जाता है किन्तु उसकी सत्ता ज्यों की त्यों बनी रहती है। केवलमात्र क्षायिक अवस्था में ही उसका पूर्ण अभाव हो पाता है। उपशम अवस्था का विशेष महत्त्व इसलिए नहीं है कि दबा हुआ विकार या कषाय किसी समय भी अनुकूल वातावरण पाकर पुनः उद्बुद्ध हो सकता है। मनोविज्ञान का यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि विकारों को दबाने से या कुचलने से कभी मन शान्त नहीं हो सकता, मन की शान्ति तो विकारों को निकालने या नष्ट करने से ही प्राप्त हो सकती है। पानी में जमी हुई मिट्टी थोड़ी-सी हलचल से ही सारे पानी को गन्दा कर देती है। मन में दबाकर रखे हुए भाव अनुकूल परिस्थिति पाकर सारे शरीर में तूफान पैदा कर देते हैं। रसोइया रसोई बनाने के पश्चात् यदि जलते हुए कोयलों पर राख डाल दे जिसको मारवाड़ी भाषा में 'चूलो मोटा दियो' कहते हैं तो इसका अभिप्राय यह नहीं समझना चाहिए कि चूला ठण्डा पड़ गया। कोई उस ढेर का स्पर्श करेगा तो जलना स्वाभाविक है। ठीक यही दशा क्रोध की भी है। उपशम अवस्था में उसके भड़कने की सम्भावना बनी रहती है। उसकी तो क्षायिक स्थिति में ही भड़कने की सम्भावना का अभाव होता है। शास्त्रकारों ने क्रोध के चार प्रकारों का उल्लेख किया है: पहला वह जो उत्पत्ति से अन्त तक ज्यों का त्यों बना रहे। इस प्रकार के क्रोधाविष्ट व्यक्ति को दीर्घरोषी भी कहते हैं। इस प्रसंग पर एक कहानी स्मरण हो आयी है :

एक ब्राह्मण था जिसने खेती को हानि पहुँचाने वाले एक बैल को क्रोध में आकर जान से मार डाला। जातिवालों ने गोहत्या के अपराध में उसे ब्राह्मण जाति से बहिष्कृत कर दिया। कई वर्षों तक वह जाति से बहिष्कृत रहा। पश्चात्ताप के रूप में गंगा-स्नान तथा अनेक प्रकार के कर्मकाण्ड विहित

अर्थात्—उसका मुख कमल की पंखुड़ी के समान खिला हुआ रहता है और वाणी चन्दन जैसी शीतलता प्रदान किया करती है। परन्तु:

"हृदयं कर्तरीतुल्यम्"

उसके हृदय में कतरनी छिपी रहती है। मौका पाते ही वह सर्वनाश तक कर देता है। यह तीसरा लक्षण हृदय के अन्दर गुप्त रहता है, बाहर प्रकट नहीं होता। ऐसा मायावी व्यक्ति मूर्खों या भोले लोगों को ही ठगने में समर्थ होता है, मतिमानों को नहीं। विचक्षण लोग तो अपनी प्रतिभा के बल से उसके अन्तर में छिपी माया को पहचान लेते हैं। वे कदापि मायाजाल में फंसकर अपना नाश नहीं करते। मायावी लोगों के चक्कर में प्रायः ऐसे लोग फंस जाते हैं जिनको तृष्णा या लालच होती है। जो परिग्रह-परिमाण-व्रत को लेकर चलते हैं और अनेक प्रकार के व्रत, पच्चक्खाणों का पालन करते हैं, वे ही वस्तुतः चतुर या विचक्षण कहलाने के योग्य हैं। ऐसे ही लोगों की प्रशंसा करते हुए तुलसीदास जी ने लिखा है:

"तुलसी सोई चतुरता, ईश-शरण जिन लीन"

अर्थात्—जिसने ईश्वर की शरण ले ली है, वही वास्तव में चतुर है।

हमारी आज की चर्चा का विषय था कि हास्य एक नोकषाय है जिसमें सभी कषायों के बीज निहित हैं। हास्य से क्रोध, मान, माया और लोभ सभी उत्पन्न होते हैं। शास्त्रकारों का कथन है कि जो बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं उनको सर्वप्रथम कषायों से मुक्ति प्राप्त करनी होगी। सामान्यरूप से मुमुक्षु के लिए तो सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्ति पाना आवश्यक है। मुख्यरूप से बन्धन का कारण राग है। राग से ही द्वेष की उत्पत्ति होती है। बाह्य रूप में तो हास्य भी राग का कारण प्रतीत होता है किन्तु इसमें विद्वेष का समावेश है। जब हम किसी को तुच्छ दृष्टि से देखा करते हैं तब भी हमें हंसी आ जाती है। ऐसी स्थिति में हास्य राग का कारण न होकर द्वेष का कारण बनता है। राग और द्वेष के साथ भी नोकषायों का सम्बन्ध है। ये सब मोहनीय कर्म की ही प्रकृतियां हैं। अठाईस प्रकार से मोहनीय कर्म आत्मा का लालन-पालन करता है—ठीक वैसे ही जैसे बालक का लालन-पालन किया जाता है। इसी प्रकार यह मोहनीय कर्म अठाईस प्रकार से आत्मा को ललचाता रहता है। मुमुक्षु को इस कर्मवीर मोह से सदा दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने से ही जीव शाश्वत सुख की ओर अग्रसर हो सकता है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) — २५ जुलाई, १९७९

चमत्कार को नमस्कार

कल हमने आपके समक्ष क्रोध, मान, माया और लो
जिक्र किया था। कषायों के भेद-उपभेदों को संक्षिप्त
डाला था। कुछ बातें रह गयी थीं जिनकी चर्चा
कषाय अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान औ
प्रकार का होता है। अनन्तानुबन्धी का अर्थ है
होना। बन्ध के बाद बन्ध की शृंखला चलती रहे
अनन्त है।

ग्रन्थों में मानतुंगाचार्य का एक प्रसंग आता है।
इसवश अड़तालीस कोठरियों में बन्द कर दिया।
बेड़ियाँ तथा हथकड़ियाँ डाल दीं। गले में लोहे
से जकड़ दिया। आचार्य निरपराध थे। कारण यह
राजा के सामने अपने-अपने देवी-देवताओं की
अनेक प्रकार के चमत्कार दिखाते थे। राजा उनके
वित था। वे पण्डित अपने हाथ-पैर काट कर
देते थे और फिर देवी-देवताओं की ऐसी स्तुति कर
परिणामस्वरूप उनके कटे हुए हाथ-पैर पुन.
राजा उनके इस प्रकार के चमत्कारों को देखकर
था। वे पण्डित जो कुछ भी आदेश देते थे
पण्डित लोग अपने चमत्कारों द्वारा राजा को
करते थे किन्तु उसमें मिथ्याचार की भावना
अभिवृद्धि के लिए निजधर्म की तो मुक्तकण्ठ
धर्मों की घोर निन्दा करके राजा के मन में
जैन धर्म की बुराई करना तो उनकी
कारण राजा के प्रधानमन्त्री का जैन होना था।
लाग मन्त्री की उपस्थिति में राजा को यह

नहीं है, यह तो नास्तिकों का धर्म है।" आखिर किसी की बुराई सुनते-सुनते, बुराई का भी मन पर असर हो ही जाता है। एक दिन राजा ने अपने जैन मन्त्री से कहा, "देखो, ये ब्राह्मण पण्डित कितने पहुँचे हुए हैं, कितने बड़े-बड़े चमत्कारों के ये लोग धनी हैं। क्या आपके धर्म में चमत्कार की शक्ति नहीं है? यदि है तो आप भी वह शक्ति दिखाइये या अपने किसी सन्त-महात्मा को लाइये जो हमें चमत्कार दिखाये।" उत्तर में प्रधानमन्त्री ने कहा, "हमारे धर्म में चमत्कार का कोई स्थान नहीं है। हमारा धर्म चमत्कार में इसलिए विश्वास नहीं करता कि यह कोई आधारभूत तत्त्व नहीं है। चमत्कार में विश्वास रखना मानव हृदय की निर्बलता का प्रतीक है। चमत्कार को महत्त्व देने वाला भक्त आज किसी के सामान्य चमत्कार से प्रभावित होकर उसका अनुयायी बनता है तो कल किसी अन्य के बड़े चमत्कार से प्रभावित होकर पहले गुरु को छोड़कर दूसरे का चेला बन जाता है। इस प्रकार चमत्कार को नमस्कार करने वाला व्यक्ति मन की दुर्बलता के कारण पराश्रित रहता है और परावलम्बन की तलाश किया करता है। परमुखापेक्षी को कोई भी झुका सकता है। इसी पर तो लागू होती है यह कहावत 'झुकती है दुनिया, झुकाने वाला चाहिए।' झुकाने वाले का तो कुछ महत्त्व हो भी सकता है किन्तु झुकने वाली दुनिया का क्या महत्त्व है। वह दुनिया तो दूसरों की गुलाम है, निज की शक्ति से हीन है।"

प्रधानमंत्री की बात को सुनकर एक पण्डित ने व्यंग्य-भाषा में राजा की ओर मुंह करके कहा, "इन लोगों के पास चमत्कार-कारिणी विद्या है ही कहाँ जो दिखा सकें। यदि होती तो ऐसी टालमटोल की बातें क्यों करते!"

इसके उत्तर में प्रधानमन्त्री ने बड़ी दृढ़ता से कहा, "ऐसी बात नहीं है। चमत्कार तो ऐसा दिखाया जा सकता है कि सारा संसार हैरान रह जाये किन्तु जिसका चमत्कार में विश्वास ही नहीं है वह चमत्कार-विषयक प्रयास नहीं करता। हमारे धर्म में चमत्कार को नहीं किन्तु वस्तु-स्वरूप को महत्त्व दिया जाता है। अनादिकाल से चली आ रही हमारी धार्मिक परम्परा बड़ी ही सारगर्भित है। उसको समझने के लिए विवेकशीलता की आवश्यकता है।"

पण्डित ने महामंत्री की बात को सारहीन बताकर उसका प्रतिवाद किया।

जिस नगर का यह प्रसंग चल रहा है, उसी नगर में उस युग के उच्चकोटि के तपस्वी और आध्यात्मिक तत्त्व के वेत्ता जैनाचार्य मानतुंग विराजमान थे। राजा ने उन्हें राजसभा में बुलाया और अन्य पण्डितों के समान उन्हें भी चमत्कार दिखाने का आदेश दिया। मानतुंगाचार्य ने भी प्रधानमंत्री की बात को ही दुहराते हुए कहा, "हमारे धर्म में चमत्कार का कोई महत्त्व नहीं है।"

"तुम्हारे यहां चमत्कार का कोई महत्त्व नहीं है किन्तु हमारे यहाँ तो

चमत्कार का ही महत्त्व है। तुम हमारी मान्यता का प्रत्याख्यान करके हमारे ऊपर अपना सिक्का जमाना चाहते हो। इस प्रकार राजधर्म की तौहीन कभी भी सहन नहीं की जा सकती।"

राजा ने क्रोधपूर्ण आवेश में आचार्य को कहा और दण्डाधिकारियों को आदेश दिया, "इस जैनाचार्य को बेड़ियों और हथकड़ियों से कसकर कोठरी में कोठरी इस प्रकार अड़तालीसवीं कोठरी में बन्द कर दिया जाये। अड़तालीस बेड़ियों और अड़तालीस ही तालों से इसको ऐसे जकड़ दिया जाये कि तनिक भी हिलने-डुलने न पाये। वहां पर इसको भली प्रकार से समझ आ जायेगा कि चमत्कार का क्या महत्त्व होता है।"

राजाज्ञा का पालन किया गया। आचार्य को यथादिष्टरूप में कोठरियों में बन्द कर दिया गया। आचार्य ध्यानस्थ होकर सोचने लगे, "आखिर इन कोठों की संख्या अड़तालीस ही तो है। कोई अधिक नहीं। यहाँ तो जिसकी गिनती भी नहीं, अन्त भी नहीं ऐसे अनन्तानन्त अनुबन्धों से बंधे हुए आत्मा की मुक्ति हो जाती है। अनन्तानन्त अनुबन्धों से बंधा हुआ आत्मा भी जब छूटकर स्वतन्त्र हो सकता है तो फिर इन अड़तालीस कोठरियों और अड़तालीस बेड़ियों और जंजीरों का बन्धन तो महत्त्व ही क्या रखता है? हमारा आत्मा वास्तव में अनन्तानन्त कर्म-वर्गणाओं से बन्धा हुआ है। शास्त्र में इसके लिए 'आवेलीय पवेलीय' इन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। एक तार के पास ही बिना किसी अन्तराल के दूसरे-तीसरे आदि तारों को लपेटते जाना और उन लपेटे हुए तारों पर उसी क्रम से दूसरी ओर से बन्धन फिर लपेटने को 'आवेलीय पवेलीय' कहते हैं।

ठीक इसी प्रकार आत्मा के प्रदेशों पर अनन्तानन्त कर्मवर्गणाओं की आवेली-पवेली लगी हुई है। "उन कर्मवर्गणाओं से आवेष्टित-परिवेष्टित जब यह आत्मा भी बन्धनमुक्त हो सकता है तो फिर उसके सामने यह शारीरिक बन्धन तो नगण्य ही समझना चाहिए।"

ऐसा सोचकर मानतुंगाचार्य ने बैठे-बैठे ही किसी सामान्य देवी-देवता की नहीं; ऐरे-गैरे, नत्थू-खैरे, नुग्गर-जुग्गर, टूर-जूर देवी-देवताओं की नहीं किन्तु भगवान् ऋषभदेव की स्तुति की। स्तुति भी किसी और की बनाई हुई नहीं थी किन्तु स्वरचित थी। भक्तामर या आदिनाथ स्तोत्र के एक-एक श्लोक की रचना के साथ-साथ क्रमशः एक-एक हथकड़ी, बेड़ी व ताला टूटती गई तथा साथ ही एक-एक कर कोठरियाँ खुलती गईं। इस प्रकार अड़तालीसवें श्लोक की रचना के साथ ही अन्तिम कोठरी का ताला भी टूट गया और मानतुंगाचार्य बाहर आ गये। राजा एवं प्रजा सभी इस आश्चर्यजनक घटना या चमत्कार *से हैरान रह गये। किसने किया, कैसे किया, कैसे हुआ, किसको बुलाया आदि*

अनेक प्रकार के पारस्परिक प्रश्न लोग करने लगे। मानतुंगाचार्य ने सबके प्रश्नों का समाधान करते हुए कहा :

"अब क्या पूछते हो कि किसको बुलाया गया। हमने तो किसी को भी नहीं बुलाया और न ही हमें किसी को बुलाने की आवश्यकता ही थी। मेरी तो बात ही क्या है, हमारे तो भगवान् भी अपनी सहायता के लिए किसी को नहीं बुलाया करते। वे तो केवल अपने घर पर बैठकर ही धर्मध्यान किया करते हैं। मैंने भी वही किया है, अपने भगवान् की स्तुति की है। उनके स्तोत्र की रचना की है। अड़तालीस कोठरियों में बन्द जंजीरों से जकड़ा हुआ शरीर, और फिर द्वार पर सशस्त्र पहरेदार, कौन आ सकता था मुझे बचाने के लिए बाहर से? प्राकृतिक रूप से कायगुप्ति की साधना, एवं एकान्तस्थान—इससे बढ़कर भगवान की स्तुति करने का भला मुझे कब अवसर मिल सकता था? मैंने इस सुन्दर अवसर का लाभ उठाकर भगवान् की स्तुति की जिसका परिणाम तुम प्रत्यक्ष रूप में देख रहे हो। हमारी मान्यता के अनुसार भगवान् कहीं आते-जाते नहीं। वे तो मुक्त हो गये हैं, उनका संसार के किसी भी प्राणी से कोई भी लेन-देन का नाता नहीं है। हमारे भगवान् तो निर्लेप, निरंजन और निराकार हैं। उन्हें तो अपने द्वारा स्थापित और अनुमोदित धर्म से भी कोई लगाव नहीं है। मुक्त होने के कारण उनका धर्म से सम्बन्ध, मोह और राग सब समाप्त हो गये। मुक्ति के पश्चात् मुक्तात्मा को यह सारा धर्म साधन मात्र प्रतीत होने लगता है। साधक साधना तभी तक करते हैं जब तक उन्हें सिद्धि की प्राप्ति नहीं हो जाती, सिद्धि की प्राप्ति के पश्चात् साधना सारहीन हो जाती है। सिद्धि के पश्चात् सारा क्रियाकाण्ड कोई महत्त्व नहीं रखता। यही कारण है कि सिद्धों में चारित्र की सत्ता स्वीकार नहीं की गई है। चारित्र का अर्थ ही यही है कि जो कर्मवर्गणाएँ आती हैं अथवा जिन कर्मवर्गणाओं का अस्तित्व पहले से ही विद्यमान है, उनका क्षय हो और संचित ढेर रिक्त हो :

"चयरित्तकरणं चारित्तं"

अर्थात् चय का रिक्त करना ही चारित्र है। जब चय का अस्तित्व ही नहीं, कर्म की कोई वर्गणा ही नहीं, फिर चारित्र की आवश्यकता कहाँ रह जाती है? हमारे भगवान् जैसा कि मैंने पहले भी निर्देश किया है विश्व के किसी भी कार्य के लिए नीचे नहीं आते। नीचे उन्हीं को आना पड़ता है जिनके कुछ कर्म अवशिष्ट रह जाते हैं। कर्मों का नाश जब अपूर्ण रह जाता है तो उसकी पूर्ति के लिए जीव को नीचे आना पड़ता है। जो जीव सब कर्मों का क्षय करके ऊर्ध्वगति को प्राप्त करते हैं, वे लौटकर नहीं आया करते। हमारे भगवान् ऐसे ही

मुक्तात्मा हैं। वे स्वयं में पूर्ण रूप हैं। हम जो उन भगवान् की स्तुति करते हैं वह अपने ही लाभ के लिए है। हमारी चित्तवृत्ति, धारणा और मान्यता अज्ञानवश या मिथ्यात्व के कारण डगमगा न जाये इस कारण हम अपना ध्यान प्रभु पर केन्द्रित किया करते हैं। यह केन्द्रीकरण हम अपनी आत्मा के परम विकास के लिए करते हैं, प्रभु को रिझाकर अपना कोई स्वार्थ सिद्ध करने की भावना उसमें निहित नहीं होती। प्रभु तो संसार से पूर्णरूप से मुक्त हैं, उनका रीझने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।"

राजा ने मानतुंगाचार्य से पूछा, "मैं तो यह जानना चाहता हूँ कि आपके ऐसे कठिन बन्धन कट कैसे गये? किस प्रकार टूट गये सभी कोठरियों के ताले? यह तो बड़ी ही आश्चर्यजनक घटना है।"

इसके प्रत्युत्तर में आचार्य ने कहा, "हमारे सिद्धान्त के अनुसार :

> धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
> देवावि तं नमसंति जस्स धम्मे सया मणो॥

अर्थात्—धर्म सबसे उत्कृष्ट मंगल है और धर्म कहते हैं—अहिंसा, संयम और तप को। जो धर्मात्मा है, जिसके मन में धर्म समाया हुआ है, देवता भी उसके चरणों में प्रणाम करते हैं।

धर्म पर सच्ची आस्था रखने वाले की सेवा के लिए तो देवता तरसते रहते हैं कि धार्मिक व्यक्ति की सेवा का अवसर हमें कैसे मिले! धार्मिक व्यक्तियों की सेवा का अवसर देवताओं को बड़ी कठिनाई से मिला करता है। इसका मुख्य कारण यह है कि धार्मिक प्रवृत्ति के लोग स्वावलम्बी होते हैं। वे स्वयं परीषह सहन कर लेते हैं किन्तु किसी दूसरे के ऊपर अपने कष्ट का भार डालने का प्रयास नहीं करते। दूसरे से अपनी सेवा करवाना उन्हें भाररूप प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में देवताओं को धार्मिक जनों की सेवा करने का मौका कम ही मिला करता है। जब अधर्मी, पापी, अत्याचारी और निर्दय लोग धर्मलीन व्यक्तियों पर अत्याचार करने लगते हैं, उनको धार्मिक क्रियाओं में बाधा डालने लगते हैं, उन्हें सताने लगते हैं, उनकी साधना में विघ्न डालने लगते हैं और उनको अमानवीय, निर्दयतापूर्ण यातानायें देने लगते हैं तब देवताओं को उनकी रक्षा के लिए आना पड़ता है। वे रक्षा के लिए मजबूरी की हालत में नहीं आते किन्तु सेवा की भावना से उपस्थित होकर धार्मिक जनों की रक्षा करते हैं। भक्तों द्वारा देवताओं को सेवा के लिए बुलाया नहीं जाता किन्तु वे सेवा का सुनहरी अवसर पाकर स्वयं उपस्थित हो जाते हैं। बुलाना तो उन देवी-देवताओं को पड़ता है जो अपने भक्तों की पीड़ाओं की देखी-अनदेखी करते हैं या लापरवाही करते हैं। ऐसे देवता तो

अपनी ही मौज में मस्त रहते हैं, उनके पास भक्तों के संकट देखने का समय ही कहाँ रहता है। ऐसे देवी-देवताओं का आह्वान करना पड़ता है, आराधना करनी पड़ती है और सहायता के लिए भक्तों को गिड़गिड़ाना पड़ता है।

मानतुंगाचार्य के युक्तियुक्त एवं सारगर्भित वचनों को सुनकर राजा बड़ा ही प्रभावित और प्रसन्न हुआ।

हमारी चर्चा का विषय चला आ रहा था कि हमारे आत्मा के ऊपर अनन्तानुबन्धी की जो चक्र-परम्परा चली आ रही है उसकी वास्तविकता हमारी समझ में नहीं आती। हमारी विचारधारा तो प्रायः उस वास्तविकता के विपरीत रहती है। कुगुरु, कुदेव और कुधर्म की सेवा, पूजा मिथ्यात्व की परम्पराएं हैं। संसार इसी प्रवाहमयी परम्परा में बह रहा है। यह सारा का सारा जाल अनन्तानुबन्धी चौक का है। संसार की किसी भी विचारधारा में अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ किसी न किसी रूप में समाये रहते हैं। समाज में प्रमुख स्थान प्राप्त करने वाले जैसा कहते हैं वैसे ही सामान्य बुद्धि रखने वाले भी कहने लगते हैं, ईश्वर के विषय में, संसार के विषय में और संसार की रचना के विषय में। इसे एक प्रकार की अन्धानुकरण की परंपरा ही कहना चाहिए। इसका प्रधान कारण जनसामान्य में मौलिक बुद्धि की मन्दता है।

संसार में यह एक प्रचलित विचारधारा है कि संसार में मिल-जुलकर रहो, जिस ओर युग के लोगों का रुख हो उसी ओर बढ़ते चलो। ऐसा न करने से व्यक्ति सामाजिक विचारधारा से अलग-थलग पड़ सकता है। ऐसी स्थिति में वह समाज द्वारा उपेक्षणीय बन जायेगा। इसीलिए संसार के प्रवाह में बहना ही हितकर है। किन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि नदी में डाली गई वस्तु जिस ओर नदी का प्रवाह है उसी ओर बह जाती है, यह कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं है। महत्त्व तो तब होता है जब कोई व्यक्ति प्रवाह की विपरीत दिशा में जाने का साहस दिखाये। विपरीत दिशा में जाने से मानव के साहस का, दृढ़ता का और मनोबल का परिचय मिलता है। प्रवाह के विरुद्ध तो वही जा सकता है जो संघर्ष कर सकता है और संघर्ष वही करता है जो शक्तिशाली होता है। संसार के लोग जैसे करें, उनका अनुकरण करना यह तो मिथ्यात्व का प्रतीक है। लोक-व्यवहार में कहा जाता है कि "अमुक व्यक्ति श्री जी की शरण हो गये और राम जी भूंडी करी" आदि। जैन-अजैन सभी ऐसा कहते सुने जाते हैं। रामजी न तो किसी को मृत्यु का बुलावा भेजते हैं और न ही मरने वाला सीधा राम के पास जाता है। प्रत्येक जीव की आयुष्य का एक निश्चित परिमाण होता है, जब सीमा समाप्त हो जाती है तो वह चला जाता है। रामजी के सिर पर इसका दोष लगाना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है।

ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि विवेकशील व्यक्तियों को संसार की प्रवाह-मयी भाषा में नहीं बोलना चाहिए। यदि वे ऐसा करेंगे तो सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी में क्या अन्तर रह जायेगा? आगम के अनुसार आत्मा के ऊपर अनन्तानुबन्ध की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। इस बन्ध परम्परा ने आत्मा को इतना प्रभावित कर रखा है कि बहुत समझाने पर भी उसकी धारणा में परिवर्तन लाना कठिन हो जाता है। यह अनन्तानुबन्धी का पहला चोक है। इस चोक में सब कुछ विपरीत ही विपरीत दिखाई पड़ता है। ज्ञान-वान् पुरुष जब संसारी व्यक्ति को सन्मार्ग पर चलने का उपदेश देते हुए कहते हैं कि "ऐसा नहीं, ऐसा आचरण करना चाहिए" तो उन्हें प्रत्युत्तर मिलता है, "संसार के सभी लोग जो कहते हैं क्या वे गलत कहते हैं?" संसार में दूसरों के बताये मार्ग पर चलने वाले भी बहुत कम लोग हैं, स्वयं मार्ग का निर्माण करने वाले तो विरले ही हैं।

जैन-भवन, डेह (नागौर) २६ जुलाई, १९७९

१९

सिद्धि पुरुषार्थ में है, मनोरथ में नहीं

शाश्वत सुखों की लिप्सा रखने वाले व्यक्ति को उद्यम का सहारा लेना चाहिए। बिना उद्यम या पुरुषार्थ के जीवन में सफलता प्राप्त करना संभव नहीं है। किसी नीतिकार ने इस सत्य का समर्थन करते हुए ठीक ही कहा है :

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति—
कार्याणि न मनोरथैः।

अर्थात्—कार्यों की सिद्धि उद्यम द्वारा हुआ करती है, मनोरथों से नहीं। कार्य-सिद्धि के लिए लोग अनेक प्रकार के उपायों का आश्रय लिया करते हैं। उन उपायों में मंत्र, यंत्र और तंत्र अपना पृथक् स्थान रखते हैं। तीनों का अपना-अपना महत्त्व है। मंत्रों का निष्पादन अक्षरों से होता है और यंत्रों का अंकों से जैसे—१, २, ३, आदि। तंत्र वस्तुओं के संयोग या संमिश्रण से बनते हैं। अमुक वस्तु में अमुक वस्तु मिलाना, अमुक समय में मिलाना, अमुक प्रमाण में मिलाना, अमुक रीति से मिलाना, अमुक दिशा में मुंह करके मिलाना इत्यादि तन्त्र की पद्धति होती है। यदि उचित विधि-विधान से किया जाये तो सिद्धि तीनों में निहित है।

मन्त्र की निरुक्ति करते हुए शास्त्रकार कहते हैं, "मननात् त्रायते इति मन्त्रः" अर्थात्—जिसका एकान्त स्थान में और एकाग्र मन से मनन करने से या ध्यान करने से सिद्धि प्राप्त होती है वह मन्त्र कहलाता है। मनन शब्द का अर्थ संस्कृत में या सैद्धान्तिक रूप में कुछ भी हो किन्तु बोल-चाल की भाषा में वह तीन अक्षरों वाला शब्द है : मन न। इसमें दो अक्षरों वाला 'मन' शब्द है और एक अक्षर न का है जो निषेधात्मक है। तो मन+न की निरुक्ति हुई कि मन को अपने निश्चित लक्ष्य से बाहर न जाने देना। हमने अपने मन का जो लक्ष्य निर्धारित कर लिया है, बस उसी पर मन को टिकाकर रखना और अन्यत्र जाने के लिए विचलित न होने देना ही मनन है। मनन करते-करते 'मन' का 'न' आधा रह जाता है और आगे त्र के साथ जुड़कर 'मन्त्र' बनता

है जिसका अर्थ होता है मनन के द्वारा त्राण— रक्षा प्राप्त करना। मनन के द्वारा हमारे जो संकट हैं, हमारी जो समस्याएँ हैं, हमारी जो विषमताएँ हैं और हमारी जो उलझनें हैं—उनसे हम मनन के कार्यकाल में त्राण पा लेते हैं। उन्हें भूल जाते हैं, उनसे दूर हट जाते हैं।

बहुत-से लोग आपको ऐसे मिलेंगे जो अपने कार्य की सिद्धि के लिए मन्त्रों का जाप करते हैं, मन्त्रों की साधना करते हैं। मन्त्र को कार्य-सिद्धि का एक माध्यम कहना चाहिए। इसी प्रकार यन्त्र भी कार्य सिद्धि का ही एक माध्यम है। जैसा कि पहले निर्देश किया गया है यन्त्र का निर्माण अंकों से होता है। पंसठिया यन्त्र, चौतीसा यन्त्र, पन्द्रिया, बीसिया आदि यन्त्रों के अनेक प्रकार हैं। यन्त्र-साधना में भी मन्त्र-साधना के समान, मन, वचन और काया को नियमित करना पड़ता है। चित्तवृत्ति के निरोध से ही कार्य-सिद्धि की सम्भावना की जा सकती है। यन्त्र की या मन्त्र की सिद्धि के लिए किया गया चित्त का निरोध भी तो एक प्रकार का उद्यम है।

मनोरथ शब्द उद्यम का विपरीतार्थक शब्द है। मनोरथ का अर्थ तो मन के रथ पर बैठ कर इधर-उधर भटकना है। 'मन के घोड़े दौड़ाना' यह कहावत लोक में प्रसिद्ध है। शारीरिक क्रिया का या शारीरिक पुरुषार्थ का सर्वथा अभाव रखकर केवल कल्पना के संसार में खोये रहना मनोरथ की परिभाषा है। मन अपनी चंचल गति के लिए प्रसिद्ध है हाँ, एक क्षण में ही उसका दूर से दूर की सीमा का उल्लंघन करके चले जाना एक सामान्य बात है। जो व्यक्ति सदा मन की चपल तरंगों पर सवार रहता है वह जीवन के, धर्म के, समाज के और राष्ट्र के किसी भी क्षेत्र में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। उसे तो वसुन्धरा का भार मात्र समझना चाहिए। हिन्दी जगत् में ऐसे व्यक्ति को शेख-चिल्ली कहते हैं। शेख-चिल्ली करता कुछ भी नहीं था, केवल मनोरथों में खोया रहता था। किसी कवि ने मात्र मनोरथों की दुनिया में डूबे व्यक्ति पर व्यंग्य करते हुए कहा है :

> मन मनसूबा मत करो, तेरा चिन्त्या नहि होय।
> पाणी से घी नीसरे, तो लूखा न खावे कोय॥

घी की प्राप्ति के लिए गौ या भैंस पालनी पड़ती है, उसे चरागाह में ले जाना पड़ता है, सेवा करनी पड़ती है और उसकी अनेक प्रकार की देख-रेख करनी पड़ती है, तब कहीं जाकर दूध की प्राप्ति होती है। दूध को गर्म करना, जमाना और फिर उस जमे हुए को चिरकाल तक मथना—आदि कठिन पुरुषार्थ की क्रियाओं के पश्चात् ही घी की प्राप्ति होती है। यदि पानी से घी निकलता होता तो लोग बिना-पुरुषार्थ किये बड़ी सरलता से निकाल लेते और किसी को

भी रूखी-सूखी खाने की आवश्यकता न रहती।

इसी कारण से ज्ञानी पुरुषों ने कहा है कि कार्यों में सिद्धि उद्यम द्वारा मिला करती है, मनोरथों के द्वारा नहीं। धर्मशास्त्रों में श्रावकों के तीन प्रकार के मनोरथों का उल्लेख आता है। श्रावक का पहला मनोरथ तो यह होता है कि वह दिन कितना परम पुण्यमय होगा जब वह आरंभ और परिग्रह का त्याग करके निर्ग्रन्थ बनेगा। इस प्रकार के मनोरथ का चिन्तन श्रावक सदा प्रातःकाल के समय किया करता है। ऐसा श्रावक वही होता है जिसकी आत्मा में त्याग के प्रति प्रेम होता है और भौतिक पदार्थों के प्रति विशेष लगाव नहीं होता। जिस प्रकार लोभी व्यक्ति धनपति बनने का चिन्तन करता है, धनपति करोड़पति बनने का, करोड़पति राज्य पाने का और राजा तीनों लोकों का आधिपत्य प्राप्त करने का मनोरथ करता है, ठीक इसी प्रकार श्रावक का पहला मनोरथ तो आरम्भ और परिग्रह का त्याग करके निर्ग्रंथ की अवस्था तक पहुँचना होता है।

श्रावक का दूसरा मनोरथ होता है, पंचमहाव्रत धारण करना। वह दिवा-निश यही सोचा करता है, "जिस दिन मैं पांच महाव्रतों को धारण करके शुद्ध निर्ग्रन्थचर्या में विचरण करूँगा, वह दिन मेरे लिये परमकल्याणकारी होगा। उस दिन मुझे संसार के सभी झंझटों से और संकटों से छुटकारा मिल जायेगा।"

तीसरा श्रावक का मनोरथ होता है, "अन्त समय की आलोयणा।" वह सोचा करता है, "जब मेरा अन्तिम समय आये उस समय मैं अपने जीवन की आलोचना कर लूं। आलोचना का अर्थ है स्वयं का परिश्लेषण या स्वयं का दर्शन। हम प्रायः दूसरों को देखा करते हैं कि उसकी छत चूती है, उसका कमरा चूता है, उसकी भींत में पानी भर रहा है। इस प्रकार दूसरों को देखना—परावलोकन कहलाता है। इस परावलोकन का कोई महत्त्व नहीं है। वास्तविक अवलोकन तो स्वयं का होता है। अपने घर में कौन-कौन-सा कक्ष चू रहा है, यह देखना चाहिए। दूसरों का चूना देखकर स्वयं का नहीं मिटाया जा सकता। अपने दोषों का ज्ञान जितना स्वयं को होता है उतना और तो किसी को नहीं हो सकता, अतः स्वयं के परीक्षण से ही अपना सुधार सम्भव है, पर-परीक्षण से नहीं। मनुष्य को गहराई से सोचना चाहिए कि उसमें क्या दुर्गुण हैं, कौन-कौन-सी कमियाँ हैं, किन-किन पचखाणों को लेकर उसने उनका सचाई से पालन किया है, किन-किन के पालन में उसने गफलत की है—इस प्रकार का आत्मावलोकन 'आलोयणा' के नाम से जाना जाता है। इस महत्त्वपूर्ण आत्मपरीक्षण पर बहुत कम श्रावक ध्यान देते हैं। पक्खी, चौमासी, संवत्सरी आदि के दिनों में ही आलोयणा सुनने की परम्परा चली आ रही है, अन्यथा नहीं। आलोयणा सुनाने वाले आलोयणा सुना देते हैं, सुनने वाले

सुन लेते हैं किन्तु इस प्रकार के सुनने-सुनाने से कोई विशेष लाभ नहीं होता। आलोचना कोई सुनने सुनाने की चीज नहीं है यह तो स्वयं के आचरण में उतारने की वस्तु है। स्वयं अपने गुण-दोषों को समझकर गुरु के समक्ष अपने दोषों को स्पष्टरूप से अभिव्यक्त करना चाहिए। किसी भी दोष को छिपाना धार्मिक अपराध माना जाता है। श्रावक द्वारा गुरु के सामने केवल अपने दोषों की अभिव्यक्ति ही अपेक्षित नहीं है किन्तु उनकी गुरु से प्रायश्चित लेने की भी याचना करनी चाहिए। अन्तिम समय में यह सोचना कि "मैं पण्डित मरण से प्राण त्यागूंगा, मुझ में उस समय समाधिभाव रहेगा, अरिहन्तों और सिद्धों में मेरी दृढ़ आस्था रहेगी" जीव के लिए बड़ा ही लाभकारी होता है। यह आलोचना जीव को उत्तरोत्तर निर्जरा की ओर अग्रसर करती है। बस, यही होते हैं तीन मनोरथ सुश्रावक के।

उक्त तीन प्रकार के मनोरथ उसी श्रावक में आते हैं जो आत्मा को सांसारिक बन्धनों से मुक्त कराने के लिए दिन-रात उद्यमशील रहता है। जिस व्यक्ति में श्रावकत्व के थोड़े भी संस्कार हैं वह धर्म में प्रवृत्ति रखेगा, कुछ आत्मिक चिन्तन भी करेगा और त्याग की क्रिया में भी प्रवृत्त होगा। श्रावक को शास्त्र में 'श्रमणोपासक' कहा है। श्रमण का अर्थ साधु होता है। श्रमण—साधु के [illegible]
श्रावक रात दिन साधु की भांति निष्परिग्रह, निरामिष एवं साम्यभावयुक्त जीवन व्यतीत करने का उद्यम करता है उसे श्रमणोपासक या श्रावक कहते हैं। निःसन्देह, श्रावक, श्रमण के समान त्याग, व्रत, पच्चखाण नहीं कर सकता किन्तु यथोचित तो त्यागमय जीवन व्यतीत कर ही सकता है। जो त्यागमय जीवन की ओर उत्तरोत्तर कदम बढ़ाता जाता है वह कभी न कभी तो मुक्ति की अंतिम मंजिल पर पहुँच ही जाता है।

हमने जो श्रावकों के तीन प्रकार के मनोरथ बताये हैं वे श्रावकों के आत्म-विकास में इसलिए सहायक माने जाते हैं कि उनकी गणना उद्यम के ही कार्यों में होती है। तपश्चर्या भी कोई सामान्य कोटि का उद्यम नहीं है। व्यक्ति बड़े से बड़े कार्य को करने का साहस कर लेता है किन्तु तपश्चर्या का नाम सुनकर घबरा जाता है। तपश्चर्या का उद्यम सामान्य कोटि के लोग नहीं कर सकते, उसके लिए उद्यम के बीज, साहस की अपेक्षा रहती है। इस प्रकार शास्त्र-कारों ने शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये चार उपाय बताये हैं। इनका उद्यमपूर्वक पालन करने से मनुष्य को निश्चित रूप से सिद्धि प्राप्त होती है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) २७ जुलाई, १९७९

२०

आराधना का आधार—आज्ञा पालन

मोक्ष शाश्वत सुखों का निधान है। संसार और मोक्ष दोनों विपरीतार्थक शब्द हैं। संसार में जीव को परिभ्रमण करना पड़ता है और भटकना पड़ता है किन्तु मोक्ष में परिभ्रमण और भटकना दोनों समाप्त हो जाते हैं। इसका कारण है कि संसार में जीव बन्धनों से जकड़ा हुआ रहता है और मोक्ष में वे बन्धन कट चुके होते हैं। संसार जीव की परतंत्रता का प्रतीक है और मोक्ष उसकी स्वतंत्रता का सूचक है। संसार में जीव परतंत्रता की डोर में बंधा रहता है, ठीक वैसे ही जैसे ऊंट, बैल और घोड़े नकेल से बंधे होते हैं। हाथी के यद्यपि नकेल नहीं होती, वह स्वतंत्र होते हुए भी अंकुशाधीन तो होता ही है।

कहते हैं कि सर सिकन्दर ने भारत में आने से पूर्व हाथी नहीं देखा था और न ही उसकी सवारी की कल्पना उसने की थी। यहाँ तो हाथी की सवारी करना एक प्रतिष्ठा की बात समझी जाती थी। बड़े-बड़े राजा-महाराजा हाथी की सवारी किया करते थे। सिकन्दर के लिए भी हाथी लाया गया और उस पर बैठा दिया गया।

"इसकी लगाम मेरे हाथ में पकड़ाओ!"

—सिकन्दर ने महावत से कहा।

"हजूर, इसके लगाम नहीं होती, यह तो अंकुश से चलता है। मैं इसे चलाता हूँ।"

—महावत ने बड़े विनम्र शब्दों में सिकन्दर को उत्तर दिया।

"तो मैं ऐसी सवारी पर बैठना पसन्द नहीं करता, जिसका नियंत्रण मेरे हाथ में न होकर दूसरे के हाथों में हो।"

सिकन्दर ने स्वयं को हाथी से उतारने का आदेश दिया।

सिकन्दर को हाथी से उतार दिया गया। वह अपनी स्वतंत्रता दूसरे के हाथ में देना नहीं चाहता था। बन्धन में बंधे प्राणी को संचालक जिस प्रकार चलाता है उसे उसी प्रकार चलना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार जीव भी कर्मों के बन्धन में बंधा हुआ है। वह कर्मों का दास है, कर्म उसे जिस दिशा की ओर ले जाते हैं वहीं उसको जाना पड़ता है। वह स्वाश्रित नहीं, पराश्रित है, पराधीन है। यह

कर्मों का बन्धन किसी दूसरे प्राणी द्वारा हमारे गले में डाला हुआ नहीं है, कर्मों का अर्जन तो हम स्वयं करते हैं और स्वयं ही अपने-आपको बन्धन में डालते हैं। इसलिए आगम में उल्लेख है :

"सव्वे सयकम्मकप्पिया"

सूत्रकृतांग, १/२/६/१८

अर्थात्—

सभी प्राणी अपने द्वारा किये गये कर्मों के कारण ही नाना योनियों में भ्रमण किया करते हैं। और भी :

"सकम्मुणा किच्चइ पावकारी"

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

उत्तराध्ययन, ४/३

अर्थात्—पापी जीव अपने ही कर्मों के विपाक से पीड़ित हुआ करते हैं। किये हुए कर्मों का बिना भोग से कभी भी छुटकारा नहीं होता। इस प्रकार जीव स्वयं के कर्मों के द्वारा ही स्वयं को बाँधा करता है। दूसरों के कर्म हम को नहीं लगा करते। यदि एक के कर्म दूसरों को चिपकने लगें तब तो बड़ा अनर्थ हो जायेगा। हमारे से शत्रुता रखने वाले, हमारे से ईर्ष्या करने वाले और हमारा बुरा सोचने वाले अनेकों व्यक्ति होते हैं, उन सबके दुष्कर्म यदि हमें लगने लगेंगे तब तो हमारी आत्मा का त्रिकाल में भी उद्धार संभव नहीं है।

हमने जो पहले आगमों के दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं वे इसी सत्य का और सिद्धान्त का समर्थन करते हैं कि जीव को स्वयं के कर्म ही बन्धन में

[illegible]

[illegible]

[illegible]

काटने में भी स्वतंत्र है। उसके कर्मों के बन्धनों को काटने के लिए कोई दूसरा आनेवाला नहीं है, उसके लिए भी उसे स्वयं प्रयत्न करना पड़ेगा। सारी धार्मिक क्रियाएँ, विधि-विधान, व्रत, प्रत्याख्यान आदि इसी निमित्त हैं कि जीव इन माध्यमों से अपने बन्धनों को काटकर स्वतंत्र बने, कर्मों की दासता से और यातना से मुक्त होवे। इसके लिए इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं है किन्तु दृढ़ निश्चय की आवश्यकता है। यदि हम यह पक्का प्रण कर लें कि हमें अपने जन्मजन्मान्तरों से चले आ रहे कर्मबन्धनों को काटना है तो हम अवश्य सफल होंगे, संसार की कोई भी शक्ति हमें विचलित नहीं कर सकती। परन्तु दृढ़ निश्चय भी तो तभी आयेगा जब हम कर्मबन्धनों को बन्धनों की दृष्टि से

आराधक का निर्माण ही गुरु की आज्ञा के पालन से होता है।

आचार-पद्धति के अनुसार प्रत्याख्यान गुरु से लिये जाते हैं। गुरु ही प्रत्याख्यान की विधि भी बताते हैं, प्रत्याख्यान का हेतु, लक्ष्य और उद्देश्य भी बताते हैं। प्रत्याख्यान से सम्बन्ध रखने वाली सभी बातें साधक को गुरु ही बताते हैं। ऐसी स्थिति में अब हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि महत्त्व प्रत्याख्यान का रहा या गुरु की आज्ञा का? इसका उत्तर है कि महत्त्व प्रत्याख्यान का नहीं है किन्तु गुरु की आज्ञा का है।

इसका कारण है कि गुरु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि सब देखकर ही प्रत्याख्यान की आज्ञा दिया करते हैं। उस आज्ञा का उत्तरदायित्व आज्ञा देने वाले गुरुओं पर होता है। गुरु ही उसके निग्रह-अनुग्रह के अधिकारी होते हैं। यही कारण है कि प्रत्याख्यान से भी गुरु की आज्ञा को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। प्रत्याख्यानी कषाय के चौक में जीव गुरु की आज्ञा का महत्त्व नहीं पहचान पाता। वह तो केवल प्रत्याख्यान के ही पीछे पड़ जाता है। इसीलिए आगम में यह स्पष्ट उल्लेख है कि प्रत्याख्यानी-कषाय-चतुष्क के रहते हुए जीव साधुपना ग्रहण नहीं कर सकता। साधुत्व कोई साधारण चीज नहीं है। इसमें एकांत हठ को कोई स्थान नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र में साधु की दैनिक चर्या पर प्रकाश डालते हुए लिखा है :

पढमं पोरिसि सज्झायं,
बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं,
पुणो चउत्थीइ सज्झायं॥
पढमं पोरिसि सज्झायं,
बीयं झाणं झियायई।
तइयाए निद्दमोक्खं तु,
चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं॥

साधु को दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करना चाहिए और दूसरे प्रहर में ध्यान। तीसरे प्रहर में आहार और चौथे प्रहर में पुनः स्वाध्याय। यह तो उसकी दिनचर्या है। रात्रि के पहले प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे प्रहर में ध्यान, तीसरे पहर में निद्रा-त्याग और चौथे पहर में पुनः स्वाध्याय।

दिन और रात्रि के पहले और चौथे पहर में स्वाध्याय; रात और दिन के दूसरे पहर में ध्यान; दिन के तीसरे पहर में आहार और रात के तीसरे पहर में निद्रा त्याग—यह हुई साधु की आठ पहर की दिनचर्या। शास्त्र का वचन कितना सारगर्भित और निरवद्य है। तीसरे पहर में निद्रा का विधान नहीं

किया किन्तु निद्रात्याग का उल्लेख कर दिया। निद्रा का त्याग तो वही करेगा जो निद्रा लेगा, इसलिए निद्रा का अध्याहार तो हो ही जाता है। 'निद्रा' प्रमाद होने के कारण से शास्त्रकार निद्रा का विधान कैसे कर सकते थे? इस पर किसी कवि की उक्ति है :

> "एक पहर की गोचरी, सात पहर का राज।
> भली विचारे साधु जी, तो सारे आतम काज॥"

केवल एक पहर में गोचरी का चक्कर है फिर तो साधु जी का अपना ही राज है। ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय, चिन्तन-मनन, जो चाहे साधु कर सकता है, अवशिष्ट सात पहरों में। गोचरी के अन्दर राज इसलिए नहीं है कि गोचरी के लिए घर-घर जाना पड़ता है। यह क्षुधा-वेदनीय, असाता-वेदनीय की एक प्रकृति है। इसको शान्त करने के लिए स्वयं के पास साधनों के अभाव में गृहस्थों के घरों में जाना ही पड़ता है।

यदि कोई अपना हित सोचे तो उसके पास आत्मकल्याण के लिए पर्याप्त समय होता है। ऐसा न सोचकर यदि कोई साधु यह सोचने लगे कि "कहाँ बन्धन में आकर फँस गये, इससे तो संसार के आनन्द ही अच्छे थे।" तो इससे साधु अपनी आत्मा में वैषम्य पैदा कर लेता है, जिसके परिणामस्वरूप उसको इतना दु:ख अनुभव होता है जो सातवीं नरक से भी अधिक है। इसलिए साधुपन में बिना मन के क्रियापालन करना न केवल निरर्थक ही अपितु महान् दु:खदायी भी है। यदि साधु मन, वचन और काय की सचाई से, हृदय की उमंग से, अंतर के उत्साह से, साधुवृत्ति का पालन करता है तो शास्त्र का कथन है :

> "न हि सुही सेठ सेणावई,
> न हि सुहो देवता देवलोए"

अर्थात्—

उस साधु के समान संसार में कोई भी सेठ और सेनापति सुखी नहीं है और देवलोक में देवताओं के सुख की भी उसके सुख के साथ तुलना नहीं की जा सकती।

देवलोक का भी आपको कुछ ज्ञान तो होना ही चाहिए। भवनपति से वाणव्यंतर, ज्योतिषी, फिर पहला देवलोक है। सब देवलोकों के ऊपर नव ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान, और सबसे ऊँचे दर्जे के देवता होते हैं सर्वार्थसिद्ध में। यह क्रम है देवलोक का। सर्वार्थसिद्ध के स्थान को तो एक 'छोटी मुक्ति' का नाम दिया गया है। वह छोटी मुक्ति है। वहाँ तेंतीस सागर की स्थिति है। वहाँ किसी

भी प्रकार का झंझट नहीं है। देवता वहां से सीधे मनुष्य-योनि में जन्म लिया करते हैं। तपश्चर्या द्वारा अपने कर्मों का क्षय करके उसी भव में मोक्ष में चले जाते हैं। सर्वार्थसिद्ध के देवताओं को सबसे अधिक सुखी बताया है। किन्तु भगवती सूत्र के अनुसार जो साधु और साध्वी अपने मन की आन्तरिक रुचि से, प्रसन्नता से और लगन से बारह मास तक साधुवृत्ति का पालन करते हैं, वे सर्वार्थसिद्ध के निवासी देवताओं के सुख का भी अतिक्रमण कर जाते हैं। दूसरे शब्दों में वे देवताओं से भी अधिक सुखी होते हैं। इसलिए हम पहले शास्त्र का वचन आपको सुना चुके हैं जिसका अर्थ है कि क्रिया के पालक सच्चे साधु सेठ, सेनापति और देवताओं से अधिक सुखी होते हैं। उन साधुओं के लिए शास्त्रकार कहते हैं:

"एगंतसुही मुणी वीयरागी"

अर्थात्—

वीतरागी जो मुनि हैं वे एकान्त सुख में रमण करने वाले होते हैं।

उक्त दैनिक चर्या का विधान होते हुए भी साधु के लिए शास्त्र का कथन है कि प्रातःकाल मुनि अपनी प्रतिलेखन-क्रिया से निवृत्त होकर गुरु के समक्ष निवेदन करे:

"इच्छामि···भंते।"

"हे भगवन्! आप आज्ञा दें कि मैं क्या काम करूँ?"

यद्यपि साधु के लिए शास्त्र-विहित स्वाध्याय आदि क्रियाएँ निश्चित होती हैं, तब भी वह गुरु से आज्ञा लिया करता है कि उनके अतिरिक्त यदि वे किसी और काम में प्रवृत्त कराना चाहें तो वह सदा प्रस्तुत रहेगा। साधु गुरु की आज्ञा पाकर ही निर्दिष्ट काम में प्रवृत्त होता है। इसी भाव को शास्त्र में इस प्रकार व्यक्त किया गया है:

"इच्छं निओइउं भंते! वेयावच्चे व सज्झाये।"

क्या आप मेरी नियुक्ति वैयावृत्य-कार्य में करने जा रहे हैं? 'वैयावृत्य' शब्द जैन शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। वैयावृत्य का अर्थ है, "ऐसे साधु-साध्वी जो वृद्ध हैं, तपस्वी हैं, नवदीक्षित हैं, रुग्ण हैं अथवा अशक्त हैं—उनकी सेवा करना।" "यदि आप वैयावृत्य की आज्ञा देते हैं तो वैसा करूँ अन्यथा स्वाध्याय आदि जो मेरी दैनिक क्रिया है, उसे तो मैं करूँगा ही।" यदि साधु को कोई उपवास भी करना होगा या विशिष्ट प्रकार की कोई तपश्चर्या करनी होगी तो भी वह गुरु से उनके लिए आज्ञा की याचना करेगा। यदि

गुरु वैयावृत्य को अधिक आवश्यक समझ कर शिष्य को उपवास और तपश्चर्या करने का निषेध करेगा तो शिष्य को गुरु की आज्ञा का पालन करना होगा। गुरु उसको ऐसा इसलिए कहता है क्योंकि वह जानता है कि साधु की तपश्चर्या तो उसके दैनिक क्रियाकलाप में वैसे ही होती रहती है। क्या आपने बलभद्र मुनि की कथा नहीं सुनी ?

बलभद्रमुनि मास-मास-खमण की तपश्चर्या किया करते थे। पारणे का जब दिन आता तो वे जंगल में ही अपने अभिग्रह के अनुकूल आहार यथासंभव ले लेते, अन्यथा नहीं। यदि अभिग्रह के अनुकूल आहार न मिल पाता तो पुनः मासखमण की तपश्चर्या प्रारंभ हो जाती थी। नगर में जाकर आहार लेने का तो उन्होंने सर्वथा त्याग ही कर रखा था। इसका एक विशेष कारण था। एक बार बलभद्र मुनि पारणे के लिए आहार लेने को नगर की ओर जा रहे थे। नगर के बाहर स्त्रियाँ कुए से पानी भर रही थी। बलभद्र मुनि बड़े ही रूपवान थे। कुए पर पानी भरती हुई एक नवयुवती उनके रूप को देखकर मुग्ध हो गई। घड़े के गले में या गागर के गले में रस्सी कुण्डलाकृति में बाँधकर स्त्रियाँ कुए से पानी खीच रही थीं। वह नवयुवती मुनि के रूप को देखकर अपनी सुधबुध भूल गई। उसका मन तो आँखों के माध्यम से साधु के रूप की ओर आकर्षित था। जल खींचने की रस्सी के कुण्डल को बच्चे के गले में डाल दिया। बच्चा रोने लगा। मुनि ने जब यह देखा तो उन्होंने उस स्त्री का ध्यान उसकी असावधानी की ओर दिलाया। इस घटना का उनके ऊपर बड़ा ही गंभीर प्रभाव पड़ा। वे सोचने लगे, "धिक्कार है ऐसे रूप को, यह तो बड़े अनर्थ का कारण है। आगे को मैं कभी भी आहार लेने के लिए नगर में नहीं जाऊँगा।"

बस, इसके पश्चात् वे कभी नगर की ओर पारणा का आहार लेने के लिए नहीं गये। जंगल में ही लकड़ी बटोरने वाले, लकड़ी काटने वाले या किसान यदि उनको पारणा के रूप में कुछ दे देते तो वे ले लेते अन्यथा मासखमण की तपश्चर्या अगले मास के लिए चालू हो जाती। इस बात का पता जंगल में रहने वाले एक हरिण को चल गया कि, "ये ऐसे महाराज हैं जो बस्ती में तो जाते ही नहीं, जंगल में ही कुछ मिल जाता है तो ले लेते हैं, अन्यथा उपवास ही चालू रहता है।" जब उनका महीने के पारणे का दिन आता तो वह हरिण जंगल में घूम-घूम कर इस बात का पता करता कि कौन जंगल में ऐसा व्यक्ति है और कहाँ है जो उनको शुद्ध आहारादिक बहरा सके। हरिण को पता कैसे चल जाता कि आज मुनिराज का पारणा है ? यह तो कुदरत का ही एक चमत्कार है। हमारे शरीर का भी कुछ तन्त्र ऐसा है कि हमारे पास समय को जानने के लिए कोई घड़ी वगैरह नहीं रहती है तो भी हमें पता

दूध में पानी जूती में तेल, इनका कैसा होता मेल ?

शाश्वत सुखों का मूल धर्म है। धर्म की आराधना दो प्रकार से की जाती है—एक तो साधु धर्म के द्वारा और दूसरी श्रावक धर्म के द्वारा। साधु का धर्म तो सर्वविरति रूप है और श्रावक का धर्म देशविरति रूप है। सर्व का अर्थ पूरा होता है और देश का अर्थ थोड़ा होता है। सभी प्रकार से विरति हो जाना या विरमण करना—सर्वविरति है। विरमण शब्द का निर्माण वि उपसर्ग और रमण से हुआ है। रमण और विरमण—ये दो ध्वनियाँ उससे निकलती हैं। रमण का अर्थ तो स्पष्ट 'रमना' है। जैसे समान प्रकृति और समान विचारों के दो लड़के आपस में इतने घुल-मिल जाया करते हैं कि दोनों के क्रियाकलाप में कोई अन्तर नहीं रह जाता। उनका खाना-पीना, बैठना-उठना सब एक साथ हुआ करता है। इसी को साहित्यिक भाषा में रमना कहते हैं। दो व्यक्तियों में गाढ़ी मित्रता देखकर लोग कहने लगते हैं कि ये तो ऐसे घुल-मिल गये हैं जैसे दूध में पानी। लोग उनको ऐसी उपमा तभी देते हैं यदि वे दोनों व्यक्ति सज्जन हों और दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध पवित्र हो। यदि दोनों व्यक्ति अच्छे नहीं, प्रकृति की विपरीतता होने पर भी आपस में घुल-मिल कर रहते हैं तो उन्हें लोग अच्छी उपमा नहीं देते। उन्हें तो कहा जाता है कि "इनका ऐसा मेल जैसा जूतों में तेल"। उचित रमण और अनुचित रमण दोनों प्रकार के रमणों की झाँकी मैंने आपके सामने प्रस्तुत की है। हमारा आत्मा पाप में रमण कर रहा है और पाप के साथ एकमेक हो गया है। इस प्रकार का रमना हमारे आत्मा के लिए अच्छा नहीं कहा जा सकता। थोड़े समय से नहीं, अनादिकाल से हमारा आत्मा पापों में रमता आ रहा है। मारवाड़ी की एक कहावत में ऐसा ही भाव ध्वनित होता है:

"पाप बान्धतां सोहिलो और भोगवतां दोहिलो।
पुण्य बान्धतां दोहिलो भोगवतां सोहिलो॥"

अर्थात्—पाप करना बड़ा सरल है किन्तु पुण्य करना बड़ा कठिन है। इसीलिए किसी विद्वान् ने कहा है :

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति,
पुण्य कुर्वन्ति नो जना ।
फल पापस्य नेच्छन्ति,
पाप कुर्वन्ति यत्नत ॥

अर्थात्—

लोग पुण्य के फल को तो इच्छा रखते हैं किन्तु पुण्यकर्म का अर्जन नहीं करते। पाप के फल को भोगना तो चाहते नहीं किन्तु पापकर्म का अर्जन बड़े यत्न से किया करते हैं।

हम अनादिकाल से पाप करते आये हैं और पाप करना हमें प्रिय भी लगता है। पाप में जीव प्रसन्न रहता है, इस पर किसी ने कहा है :

पाप मे जीव बहुत राजी,
खेल रह्यो कुमति सग बाजी ॥

जीव कुमति के साथ खेला करता है और पाप मे रमण करता है। इस प्रसग मे कुछ पापों के नाम आपको बताना आवश्यक है :

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह—ये पाँच प्रकार के पाप हैं। इसके अतिरिक्त पाप तो और भी हैं। कुल अठारह पाप हैं। किन्तु इन पाँच मुख्य पापो के सर्वथा विरमण से महाव्रतो को एव अशत: विरमण से अणुव्रतो को ग्रहण किया जाता है।

इन पाँच प्रकार के पापो के साथ यदि हम रमण करना छोड़ दें तभी हम उनसे मुक्त हो सकते हैं। पापो के साथ हमारा एकमेकपना और घुल-मिलकर रहने का व्यवहार जब मिटता है तभी पाप-रमण का त्याग या विरमण सम्भव है। पापो के साथ रमण बुरा है एव पापो से विरमण अच्छा है। शास्त्रकार व्रतो की व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं :

"पाणाइवायाओ विरमण, मोसावायाओ विरमण, अदिण्णादाणाओ विरमण, मेहुणाओ विरमण, परिग्गहाओ विरमण।"

प्राणातिपात—जीवहिंसा, मृषावाद—झूठ, अदत्तादान-
स्त्रीसम्भोग, परिग्रह—सग्रह की भावना, इन पाँच प्रकार
को अलग रहना चाहिए अर्थात् इनका आत्मकल्याण निमि
चाहिए।

ने भी अपने तत्त्वार्थ-सूत्र मे इसी प्रकार

लिखा है :

"हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्"

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह—इनसे विरत होना भी व्रत कहलाता है। जैसे जूतों में तेल घुल-मिलकर रहता है, वैसे ही हम पापों के साथ घुल-मिलकर रह रहे थे जबकि यह हमारी एक बहुत बड़ी भूल थी या भ्रान्ति थी।

दूध और पानी के साथ हमारी तुलना निर्दोष नहीं है क्योंकि दूध और पानी तो दोनों अमृत हैं। पानी का महत्व तो दूध से भी अधिक है क्योंकि हम दूध के बिना जीवित रह सकते हैं किन्तु पानी के बिना नहीं। इसके अतिरिक्त पानी तो दूध के भी प्राण है, बिना पानी की सत्ता के दुग्ध का दुग्धत्व सम्भव नहीं। दूध और पानी की तुलना में आत्मा को हम दूध मानेंगे तो पानी को पापरूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि पानी तो उत्तम वस्तु है, अमृत है और सृष्टि के प्राणियों का जीवन है। अतएव दूध और पानी की उपमा आत्मा व कर्मों के लिए घटती नहीं।

चमड़े और तेल की उपमा निःसन्देह युक्तियुक्त प्रतीत होती है। चमड़े और तेल का मेल विजातीय मेल है। तेल के समान आत्मा नाम की पवित्र वस्तु का चमड़े के समान पाप में मिलाना अनुचित रमण होता है। इस रमण के त्याग का नाम ही विरमण है। यह विरमण भी दो प्रकार से होता है। एक तो सर्वथा विरमण होता है जो साधुओं के आचरण में पाया जाता है :

"सव्वाओ पाणाइवायाओ विरमणं"
सव्वाओ मुसावायाओ विरमणं,
सव्वाओ मेहुणाओ विरमणं,
सव्वाओ परिग्गहाओ विरमणं"

श्रावकों का विरमण सर्वथा नहीं होता, आंशिक होता है। स्थूल रूप में होता है :

"थूलाओ पाणाइवायाओ विरमणं"

अर्थात्—केवल त्रस जीव की जान-बूझकर हत्या नहीं करना। त्रस के अतिरिक्त जो स्थावर जीव हैं उनकी कोई चर्चा नहीं। अनजान में त्रस जीवों की भी हिंसा हो जाये तो व्रत में बाधा नहीं। संक्षेप में श्रावक के लिए 'थूलाओ' और मुनि के लिए 'सव्वाओ' का विधान है। एक देशविरति धर्म है और दूसरा सर्वविरति धर्म है।

सर्वविरति धर्म को धारण करने वाले अर्थात् साधु-धर्म की आराधना करने वाले श्रमण तीन प्रकार के होते हैं एक तो भगवान् ऋषभदेव के युग के; दूसरे मध्यवर्ती भगवान् अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ भगवान् के समय तक के और तीसरे भगवान् महावीर के शासन काल के। इन तीन प्रकार के धर्म करने वाले श्रावकों की धार्मिक क्रियाओं की कोई व्याख्या नहीं की गयी। इसका प्रधान कारण यही है कि धार्मिक दृष्टि से श्रावक का स्थान गौण है, प्रमुख स्थान तो धर्म की आराधना करने वाले साधु का है। इसलिए साधुओं की अपेक्षा को ही ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न प्रकृतियों का विवरण दिया गया है। भगवान् ऋषभदेव के समय के लोग सरल प्रकृति के किन्तु जड़ बुद्धि वाले थे। भगवान् अजितनाथ से भगवान् पार्श्वनाथ तक के लोग सरल एवं अत्यन्त बुद्धिमान थे। भगवान् महावीर के युग के लोग वक्रप्रकृति के एवं जड़बुद्धि के हैं। सरलता और समझदारी दोनों की उनमें न्यूनता है। वे स्पष्ट रूप से न तो किसी बात को कहते ही हैं और न ही गुरुओं द्वारा दी गयी शिक्षा को ही समीचीन रूप से ग्रहण करते हैं। गहराई में न जाकर किसी एक बात की ही पूँछ पकड़कर बैठ जाते हैं। दृष्टान्त के द्वारा इस सत्य का स्पष्टीकरण हो जायेगा।

साधु बाहर चले गये और देर से लौटकर आये। गुरु ने पूछा, "आज बहुत विलम्ब से लौटे हो, क्या कारण बन गया था ?"

उत्तर मिला, 'भगवन् ! हमें विलम्ब इसलिए हो गया कि मार्ग में एक नाटक का अभिनय हो रहा था उसे देखने लग गये थे।"

"नाटक देखना साधुओं के लिए वर्जित है। नटों द्वारा अभिनीत नाटक आगे को कभी मत देखना।" गुरु ने अनुशासन की वाणी में कहा।

"जो आज्ञा, आगे को ऐसी भूल नहीं करेंगे।" शिष्यों ने नम्रवाणी में गुरु की आज्ञा को स्वीकार किया।

अगले दिन वही साधु पुनः देर से आये। गुरु ने पूछा, "आज भी देर कर के आये हो, देर का क्या कारण है ?"

"बापजी, आज तो नटनियाँ नाटक कर रही थीं उनको देखने लग गये, आपने तो नटों का नाटक देखने के लिए मना किया था।" शिष्यों ने बड़ी सरल वाणी में उत्तर दिया।

"मैंने तुमसे कहा था नाटक देखना साधुओं के लिए वर्जित है। जब नटों द्वारा अभिनीत नाटक देखना वर्जित है तो नटनियों का नाटक समर्थित कैसे हो सकता है ?" गुरु ने साधु की आचारपद्धति पर जोर देते हुए कहा।

"भूल हो गयी, भविष्य में ऐसा नहीं करेंगे।" शिष्यों ने अपनी भूल स्वीकार करते हुए कहा।

ऐसे थे भगवान् ऋषभदेव के शासन में साधु, सरल एवं जड़। जो बात जितनी कही जाती, बस उतनी ही समझ पाते थे। थोड़े-से इशारे में बहुत कुछ समझ सकने की सामर्थ्य उनमें नहीं थी।

भगवान् अजितनाथ से पार्श्वनाथ के समय तक के साधु-साध्वियों से जब ऐसे प्रश्न पूछे जाते तो वे क्या उत्तर देते—उसका विवरण इस प्रकार है: गुरु से यह पूछे जाने पर कि विलम्ब क्यों हुआ, साधुओं ने मार्ग में नटों द्वारा होनेवाले नाटक का नाम लिया और देर का कारण स्पष्ट बता दिया। गुरु के यह कहने पर कि साधुओं के लिए नाटक का देखना वर्जित है, साधुओं ने किसी अन्य अवसर पर नटनियों द्वारा अभिनीत नाटक को इसलिए नहीं देखा क्योंकि नाटक न देखने के गुरु के उपदेश में सभी प्रकार के नाटकों का समावेश उन्होंने समझ लिया था। स्पष्ट है कि वे सरल एवं बुद्धिमान थे।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, भगवान् महावीर के शासनकाल के लोग वक्र भी हैं एवं जड़ भी।

गुरु के द्वारा यह पूछे जाने पर कि "आज आप देर से क्यों आये ?"

उत्तर मिला, "क्या गांव के बाहर ही बैठ जाते, वापस तो आना ही था। दूर गये थे, दूर जाने से आने में देरी तो लगेगी ही।" साधुओं की वाणी में वक्रता थी।

गुरु ने फिर पूछा, "अरे भाई बाहर तो प्रतिदिन ही जाते हो, आज क्या विशेष बात हो गयी जो इतनी देर से आये हो ?"

"आप हमारी प्रतीक्षा कर रहे होंगे, प्रतीक्षा करने वालों को थोड़ा समय भी अधिक दिखाई दिया करता है। देर लगी, देर लगी, क्या देर लगी, नाटक हो रहा था, उसे देखने लग गये थे।" शिष्यों ने बड़ी कर्कश और विनयहीन भाषा में उत्तर दिया।

"इस प्रकार स्पष्ट और सत्य वाणी क्यों नहीं बोलते ? इतनी देर तक उल्टे-सीधे उत्तर देने से तुम्हें क्या लाभ हुआ ?" गुरु ने उन्हें समझाते हुए कहा और आदेशात्मक ढंग से उन्होंने नटों का नाटक देखने को साधु के लिए वर्जित बताया।

शिष्यों ने आदेश को अहसानपूर्वक स्वीकारते हुए कहा, "ठीक है बाबा ! हमारी तो मन बहलाने की इच्छा रहती है, किन्तु कोई बात नहीं, आप यदि नहीं चाहते हैं तो आगे से नहीं देखेंगे।"

दुबारा फिर एक दिन देर से आया शिष्य। गुरु जी ने फिर पूछा, "भई ! इतनी देर कैसे लगी ?"

"आपने तो उस दिन नटों का नाटक देखने को मना किया था, नटनियों का नहीं। यदि आप नटनियों का नाटक देखने को भी मना कर देते तो हम काहे

को देखते ? आप एक बार ही सारी आचार-संहिता की शिक्षा क्यों नहीं दे देते ? ऐसा प्रतीत होता है कि आपको हमें बार-बार डांटने में और दण्ड देने में आनन्द आता है।" शिष्यों ने बड़ी धृष्टता से अपनी मन्दबुद्धि और वक्रता का परिचय देते हुए कहा।

भगवान् महावीर के शासनकाल के अनुयायियों में सरलता और नम्रता बहुत कम मात्रा में पाई जाती है। इस प्रकार धर्माराधन करने वालों की तीन प्रवृत्तियाँ हैं : (१) ऋजु और जड़, (२) ऋजु और प्राज्ञ, (३) वक्र और जड़।

दो तत्त्व हैं : ऋजुता और प्राज्ञता। ऋजुता और प्राज्ञता के लाभ का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जो व्यक्ति प्राज्ञ है उसको धर्म का स्वरूप और वस्तु का स्वरूप भलीभाँति समझ में आ जाया करता है—बस यही प्राज्ञ होने का लाभ है। समझे हुए धर्म को भली प्रकार पालन करने की सामर्थ्य आ जाना यह सरलता और ऋजुता का लाभ है। धर्म का पालन सरल व्यक्ति किया करते हैं और तत्त्वों का ज्ञान प्राज्ञ व्यक्ति को होता है। जो विचक्षण नहीं है, *प्राज्ञ नहीं है, वह धर्म का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकता।* जिसमें सरलता और ऋजुता का अभाव है, वह धर्म का पालन नहीं कर सकता। जैन धर्म में सरलता नितान्त अपेक्षित है। सरलता के गुण से हीन व्यक्ति गुरु के साथ ही क्या वह तो भगवान् के साथ भी धोखा करने में सकोच नहीं करेगा।

सरलता और प्राज्ञता का इतना विश्लेषण करने का हमारा यही उद्देश्य है कि जिस प्रकृति के व्यक्ति होते हैं उनके सामने धर्म का स्वरूप उसी ढंग का बताया जाता है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के समय के साधुओं को धर्म का स्वरूप पाँच महाव्रतों के रूप में बताया गया। बीच के बाईस तीर्थंकरों के साधकों के लिए चार महाव्रतों का ही विधान किया गया। इसको उन युगों में चातुर्याम धर्म के नाम से पुकारा जाता था। अब प्रश्न हमारे सामने यह है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के समय में पाँच महाव्रत और मध्यकाल में चार का ही विधान क्यों ? इसका उत्तर यह है, महाव्रत तो मध्यकाल में भी पाँच ही थे, ब्रह्मचर्य नाम के चौथे महाव्रत का अलग उल्लेख न करके उसका समावेश अपरिग्रह—पाँचवें महाव्रत में कर लिया गया था। स्त्री का और परिग्रह का सम्बन्ध तो स्पष्ट ही है। जहाँ स्त्री होगी वहाँ परिग्रह होगा ही और जहाँ परिग्रह का नाम लिया जायेगा वहाँ स्त्री के परिग्रह का बोध स्वयं हो ही जाता है। इसीलिए बाईस तीर्थंकरों के समय में ब्रह्मचर्य नाम के महाव्रत का पृथक् विधान न करके उसे परिग्रह के अन्तर्गत समझ लिया गया था। परिग्रह-त्याग में स्त्री का त्याग स्वयं अवगत हो जाता था। यदि स्त्री और परिग्रह का

अन्योन्याश्रित सम्बन्ध भी मान लें तो कोई असंगति नहीं होगी। क्योंकि सामान्य रूप से जहाँ स्त्री होगी वहाँ परिग्रह रहेगा ही और जहाँ परिग्रह होगा वहाँ स्त्री की उपस्थिति भी प्रायः होगी ही। भगवान् महावीर के युग में जो पुनः ब्रह्मचर्य महाव्रत को पृथक् करके महाव्रतों की संख्या पाँच बना दी गई सो तो अच्छा ही हुआ। यदि ऐसा न करते तो शिथिलाचारी लोगों को व्यभिचार के समर्थन का एक बहाना भी मिल सकता था। पाँच के विधान की और पालन की तो बात ही क्या है छठे का भी विधान करना पड़ा। साधुओं के लिए छठा व्रत रात्रि-भोजन-विरमण है और श्रावकों के लिए छठा दिशा-विरमण-व्रत है। वैसे तो रात्रि-भोजन-विरमण-व्रत का समावेश प्रथम महाव्रत 'अहिंसा' में भी हो सकता था क्योंकि रात्रि भोजन करने से जीवों की विराधना होती है—हिंसा होती हैं, परन्तु यह तो पाँचवाँ आरा है, लोग वक्र और जड़ मतिवाले हैं। लोग खुरचने निकालने लगेंगे कि पाँच महाव्रतों में रात्रि भोजन का तो कहीं भी उल्लेख नहीं है इसलिए साधु यदि रात्रि को भोजन कर भी ले तो क्या हानि है। इसी आशंका को ध्यान में रखकर आचार्यों ने छठे व्रत का अलग से विधान किया है। परसों अपने व्याख्यान में हमने बताया था कि प्रत्याख्यान से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात आज्ञा है। आज्ञा का स्थान सर्वोपरि है। जिस प्रकृति के लोग होते हैं, उनको उसके अनुसार ही प्रत्याख्यान का रूप समझाया जाता है। यही कारण है कि पहले पाँच महाव्रतों का विधान था, फिर चार का हुआ और पुनः पाँच का विधान कर दिया गया। पाँच से भी जब काम न चला तो छठे का भी विधान करना पड़ा। इस कारण गुरु की आज्ञा या शासन की आज्ञा को सर्वोपरि मानना चाहिए।

जैन-भवन, डेह (नागौर) २९ जुलाई, १९७९

२२

मूल गुण और उत्तर गुण-विश्लेषण

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है शाश्वत सुखों की प्राप्ति धर्म की आराधना द्वारा ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। साधुत्व और श्रावकत्व धर्म की आराधना में माध्यम हैं। साधु-धर्म और श्रावक-धर्म इन दोनों प्रकार के धर्मों में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिज्ञाएँ लेनी होती हैं। कतिपय प्रतिज्ञाएँ तो 'यावज्जीव' अर्थात् सम्पूर्ण जीवन के लिए होती हैं और कुछ प्रतिज्ञाएँ ऐसी होती हैं जो समय की सीमा से बँधी होती हैं। समय की मर्यादा के अनुसार जिन प्रतिज्ञाओं का पालन किया जाता है, उन्हें 'उत्तर गुण' कहते हैं। आजीवन जो प्रतिज्ञाएँ पालन की जाती हैं वे 'मूल गुण' के नाम से पुकारी जाती हैं। मूल गुण की प्रतिज्ञाएँ पहले ली जाती हैं और उत्तर गुण की बाद में। उत्तर गुणों की प्रतिज्ञाएँ मूल गुणों को शक्ति और दृढ़ता प्रदान करने के लिए होती हैं। यदि कोई ऐसा कहे कि शक्ति तो मूल गुणों से उत्तर गुणों को मिलनी चाहिए क्योंकि शक्ति का स्रोत तो मूल गुण हैं। इसका उत्तर यह है कि यदि हम मूल गुण तो धारण कर लें और उत्तर गुणों की उपेक्षा कर दें, तो ऐसी स्थिति में हम मूल गुणों के लक्ष्य से भ्रष्ट हो सकते हैं। जो शक्ति और दृढ़ता मूल गुणों को हमारी ओर से मिलनी चाहिए वह नहीं मिल पायेगी। मूल गुणों को धारण करने के पश्चात् यदि हम निरन्तर उनके लिए कुछ क्रिया करते रहेंगे तभी तो मूल गुणों को स्थिरता प्रदान कर सकेंगे। एक उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण हो जायेगा। एक भवन का निर्माण कराया गया, उसकी दृढ़ता और स्थिरता के लिए अपेक्षित पत्थर, सीमेंट, चूना आदि का प्रयोग किया गया। भवन के खड़ा करने मात्र से भवन का काम समाप्त नहीं हो जाता किन्तु भवन के चिरकालिक स्थायित्व के लिए उसकी धुलाई, पुताई, रंग-रोगन, दैनिक सफाई, समय-समय पर मरम्मत की व्यवस्था नहीं होगी तो वह भवन जल्दी ही कमजोर पड़ जायेगा, जीर्ण-शीर्ण हो जायेगा। कुछ वर्षों तक यदि वह उपेक्षित अवस्था में पड़ा रहा तो सम्भव है उसकी मरम्मत पर हमें उतना ही खर्चा करना पड़े जितना कि उसके निर्माण में लगा था। भवन का निर्माण मूल गुण

के समान समझना चाहिए और उस भवन की जो संरक्षण की क्रियाएँ हैं, वे उत्तर गुणों के समान हैं।

एक दूसरा उदाहरण वृक्ष का लीजिये। बीज अंकुर के रूप में प्रस्फुटित होता है। बहुत कोमल होता है, अंकुर को कोई भी उखाड़कर फेंक सकता है परन्तु माली उसकी रक्षा करता है पशुओं से, पक्षियों से। उसे सींचता है, उसके विकास के लिए। धीरे-धीरे सुरक्षा पाकर वह झाड़ का रूप धारण करता है। समय के साथ-साथ उसके तने मजबूत होते जाते हैं, वह वृक्ष बन जाता है, उसकी शाखाओं को शक्ति मिलती है, वे फैलती जाती हैं। शाखाएं पल्लवित होती हैं, पुष्पित होती हैं और फलित होती हैं। प्रतिवर्ष उस वृक्ष के सहस्रों पत्ते झड़ते हैं और नये आते हैं। वह अपने रक्षक माली को फलों की आय से सम्पन्न बनाने लगता है। अब उस वृक्ष का तना इतना दृढ़ और शक्तिशाली बन जाता है कि उसको किसी प्रकार की बाह्य सुरक्षा की आवश्यकता नहीं रह जाती है। उस तने में जो इतनी दृढ़ता और शक्ति का समावेश हुआ है उसका कारण उसकी बाहर की संरक्षण की क्रियाएं हैं। यहां वृक्ष के तने को मूल गुण के रूप में समझना चाहिए और सरंक्षण की बाह्य क्रियाओं को उत्तर गुण के रूप में।

मूल गुणों को उत्तर गुणों से किस प्रकार सहायता मिला करती है यह बात उक्त दोनों उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है और यह भी स्पष्ट हो गया कि मूल या स्थायी तत्त्व की, अस्थायी तत्व किस प्रकार रक्षा या सहायता करता है। हम यदि मूल वस्तु की बारंबार देख-रेख करते रहते हैं, तो वह सुरक्षित रहती है, उसमें स्थायित्व आ जाता है। इसका कारण है, हमारी दृष्टि में, हमारी नजरों में चैतन्य भरा पड़ा है। जब एक चैतन्य की दृष्टि दूसरे चैतन्य पर पड़ती है तो क्या विलक्षण विचारधारा उत्पन्न हो जाया करती है:

"चार मिले चौंसठ खिले, बीस रहे कर जोड़।
सज्जन हम तुम दो मिले, विकसे सात करोड़ ॥"

अर्थात्—

जब दो सज्जन मिले तो दोनों की आँखें मिलकर चार हो गईं। आँखें चार होते ही दोनों मुस्करा दिये, दोनों के बत्तीस दांत, चौंसठ की संख्या में खिल गये। दोनों ने हाथ मिलाये तो दोनों के हाथों की अंगुलियों की संख्या बीस के रूप में मिली। दोनों सज्जन एक-दूसरे को देखकर रोमांचित हो गये। एक व्यक्ति के शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम होते हैं, दोनों के शरीरों के रोम मिलकर सात करोड़ हो गये। हमारा कहने का अभिप्राय है कि

चैतन्य की नजर जब चैतन्य पर पड़ती है तो ऐसी प्रक्रिया होती है। चैतन्य की नजर बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यह तो जड़ पदार्थों पर भी पड़ जाती है तो उनको भी जीवन-सा प्रदान कर देती है। दूसरे शब्दों में, चैतन्य की दृष्टि जड़ पदार्थों में भी जीवन संचार करने वाली है। आपका मकान सुन्दर से सुन्दर हो किन्तु आप उसे ताला लगाकर चले जायें और दो-तीन साल बाद जब आप वापस आकर ताला खोलेंगे तो आपका उसके अन्दर प्रवेश करने को भी मन नहीं करेगा। इसका मुख्य कारण यही है कि पर्याप्त समय तक उसमें चैतन्य की अनुपस्थिति रही। चिरकाल तक उस मकान की दीवारों को, छतों को और फर्श को किसी चैतन्य की दृष्टि ने नहीं देखा। कितना बड़ा चमत्कार भरा हुआ है इस चेतन की दृष्टि में। यह एक मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक सत्य है कि हमारी दृष्टि से पुद्गलों का एक प्रवाह निकलता है और वह प्रवाह अपने सामने आनेवाले पुद्गलों को प्रभावित करता है। सामने के पुद्गल उससे विकसित हो जाते हैं। फिर मकान तो चैतन्य का निवास स्थान है, उसमें चैतन्य द्वारा जीवन संचार हो जाना तो एक स्वाभाविक बात है। ठीक इसी प्रकार हमारा शरीर भी तो चैतन्य का मकान ही है। शरीर जड़ और जीव उसमें जीवन का संचार कर रहा है। उस चेतन के निवास से ही जड़ शरीर चमक रहा है। मारवाड़ी भाषा में कहा जाता है, 'इणरो चेहरो तो दीपूं दीपूं करे'। दीप्ति, तेज और लावण्य ये किसके गुण हैं—सब चेतन के चमत्कार हैं।

हाँ, तो हमारा प्रसंग चल रहा था मूल गुणों और उत्तर गुणों का। मूल गुण के रूप में हमने आजीवन व्रत-पच्चक्खाण तो ले लिया किन्तु लेने के पश्चात् यदि हम किसी भी प्रकार से उत्तर गुणों को धारण नहीं करते हैं तो हमारे मूल गुणों को सुरक्षा का तत्त्व नहीं मिल पायेगा और ऐसी उपेक्षा की स्थिति में वे मूल गुण एक दिन धूल में मिल जायेंगे। इसी कारण से शास्त्रकारों ने कहा है कि अपने मूल गुणों की सुरक्षा के लिए हमें समय-समय पर उत्तर गुणों को धारण करना चाहिए। यद्यपि उत्तर गुण अस्थायी होते हैं किन्तु अस्थायी होकर भी वे स्थायी तत्त्व की रक्षा करने की शक्ति रखते हैं, इस लिए उपेक्षणीय नहीं हैं। किसी छोटे बच्चे को जब हम अक्षर लिखना सिखाते हैं तो पहले तो वह टेढ़े-मेढ़े अक्षर लिखता है। उसके अक्षर सुन्दर बनें, इसलिए हम उसकी अंगुली पकड़ उसे अक्षरों के सुन्दर बनाने की विधि सिखाते हैं। परिणामस्वरूप वह सुन्दर अक्षर लिखने लगता है। यही बात मूल गुणों और उत्तर गुणों पर भी घटित होती है। उत्तर गुणों के धारण करने से मूल गुणों को निश्चित रूप से बल मिलता है और वे सुन्दर बनते जाते हैं।

यदि कोई यह कहे कि मूल गुणों में भी स्थायित्व कहाँ है? उनका धारण

तो आजीवन है। जब जीवन ही स्थायी नहीं तो मूल गुण स्थायी कैसे हो सकते हैं? जितने भी व्रत-पचखाण हैं वे जीवन के अन्त तक ही तो हैं, मृत्यु के पश्चात् वे सब अपने-आप छूट जाते हैं। फिर मूल गुणों में स्थिरता कहाँ रही? इसका उत्तर यही है कि मूल गुणों की स्थिरता उत्तर गुणों की अपेक्षा से मानी जाती है। अर्थात् उत्तर गुणों की अपेक्षा से मूल गुण अधिक स्थिर हैं, अधिक स्थायी हैं।

दूसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि व्रत-प्रत्याख्यानों का सम्बन्ध तो आत्मा से है, शरीर से तो नहीं, इसीलिए शरीर के नष्ट होने पर भी जब तक आत्मा है तब तक व्रत-पचखाणों का सम्बन्ध तो आत्मा के साथ बना ही रहेगा फिर मूल गुणों की जीवनपर्यन्त सीमा बांधना कहाँ तक संगत है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मृत्यु के समय स्मरण-शक्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है, इसलिए पच-खाण की जो प्रक्रिया है वह बनी नहीं रह सकती। प्रत्याख्यान की लिंक टूट जाती है। प्रत्याख्यान की लिंक तो उस समय भी टूट जाती है जब हम प्रत्या-ख्यान लेकर भी यह भूल जाते हैं कि हमने प्रत्याख्यान लिया या नहीं। भूल की स्थिति में हमें पुनः प्रत्याख्यान लेना पड़ता है। सामायिक पर भी तो यही नियम लागू होता है। सामायिक ले ली और बैठ गये। मन कहीं और चक्कर काटने लगा, किसी के साथ बातचीत में उलझ गये और भूल गये कि सामायिक ली थी या नहीं। ऐसी स्थिति में धर्मगुरुओं की आज्ञा है कि सामा-यिक पुनः लेनी चाहिए। सामायिक के जो पांच अतिचार बताये गये हैं उनमें से एक अतिचार है:

"सामाइयस्स सइ अकरणयाए"

सामायिक की स्मृति का न रखना। सामायिक नवाँ व्रत है। प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार होते हैं। सामायिक के भी पांच अतिचार हैं: (१) मणदुप्पणिहाणे, (२) वयदुप्पणिहाणे, (३) कायदुप्पणिहाणे। पुरानी प्रतिक्रमण-पद्धति में ये तीनों अलग-अलग वाक्यों में प्रयुक्त न होकर एक ही वाक्य में प्रयुक्त हैं: "मन, वचन काया ना जोग पाडवे ध्यान प्रवर्ताया हो।" ऐसे एक ही वाक्य में तीनों का प्रयोग किया गया है। भिन्न-भिन्न वाक्यों में उक्त तीनों का विवरण इस प्रकार है:

मणदुप्पणिहाणे—मनोदुष्प्रणिधानम्,

अर्थात्—मन से नहीं विचारने लायक कोई विचार किया हो।

वयदुप्पणिहाणे—वचोदुष्प्रणिधानम्,

अर्थात् वाणी से नहीं बोलने योग्य कोई वचन कह दिया हो।

कायदुप्पणिहाणे कायदुष्प्रणिधानम्

अर्थात्—शरीर से नहीं करने योग्य कोई चेष्टा हो गई हो।

दुष्प्रणिधान का भाव ही मारवाड़ी भाषा के "योग पाड़वे ध्यान प्रवर्ताया हो" में निहित है। पाड़वा ध्यान का अर्थ है कि ऐसा ध्यान जो प्रगति पथ पर बढ़ रही आत्मा को नीचे गिरा देवे।

सामायिक का चौथा अतिचार है "सामाइयस्स सइ अकरणयाए" अर्थात्—सामायिक की स्मृति न रखना, सामायिक ली है या नहीं, इसे भूल जाना। इसी को मारवाड़ी भाषा में "सामायिक की सभालना न कीधी होय" ऐसा कहते हैं। भूल जाने पर श्रावक को पुन सामायिक लेनी चाहिए अन्यथा वह पाप का भागी बनता है। सभालना यह शब्द मारवाड़ी भाषा में प्राकृत से आया है। सस्कृत मे इसकी छाया है 'सस्मारणा'। "सम्यक् प्रकारेण स्मारण, सस्मारणम्" सभालना और सस्मारणा - इन दोनो शब्दो का अर्थ एक ही है। पाँचवाँ सामायिक का अतिचार है।

'सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणयाए'

अर्थात्—सामायिक के समाप्त होने से पहले ही सामायिक को बीच में ही छोड़ देना। सामायिक का कम से कम समय होता है—अड़तालीस मिनट, जिसे एक मुहूर्त भी कहते हैं।

हमारा प्रसग चल रहा था मूल गुणो और उत्तर गुणो का। हमने बताया था कि उत्तर गुण मूल गुणो को शक्ति प्रदान करते हैं। इसके साथ-साथ यह बात भी भलीभाँति समझ लेनी चाहिए कि पचखाण आत्मा से सम्बन्धित होने पर भी आत्मा के साथ नहीं जाते। इसका कारण यह है कि मरने वाला व्यक्ति पचखाण करने वाली गति में ही जायेगा अथवा ऐसी गति में जायेगा जहाँ पचखाण है ही नहीं, इसकी हमारे पास कोई भी गारटी नहीं है। इसलिए जब तक मानव शरीर में आत्मा है तभी तक पचखाण हैं। यदि कोई व्यक्ति पचखाण को आत्मा के साथ सदा रहने वाली भावना से करवाता है तो उसका वैसा करवाना शास्त्र-विरुद्ध है। मनुष्य गति से मरकर यदि आत्मा देव लोक में जाता है तो वहाँ पचखाण नहीं है, नरक लोक में जाता है तो वहाँ भी पचखाण नहीं है और यदि पुनः मनुष्य गति में भी आ जाता है तब भी पचखाण की प्रक्रिया उस पर घटित नहीं होती। इसका कारण है कि मनुष्य गति से भी मरकर जब वह यहाँ से जायेगा तब यहाँ की जो पर्याप्तियाँ हैं जिनकी सख्या छह है (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन) उसके साथ नहीं जायेंगी। जिस आहार के सहारे वह जीवित रहता है वह आहार उसे यहीं छोड़ कर जाना पड़ता है या यों कहो कि उस आहार की समाप्ति ही उसके जीवन की समाप्ति है। वह आहार भी कैसा और कौन-सा ? जिस समय

जीव माता के गर्भ में आता है उस समय जो आहार ग्रहण करता है वह आहार जीवन-भर चलता रहता है। जो आहार हम प्रतिदिन करते हैं केवल उस आहार से हमारा सारा जीवन नहीं चलता है। आपको ज्ञात होना चाहिए कि आहार तीन प्रकार का होता है: (१) ओज आहार, (२) रोम आहार और (३) कवल आहार। सर्वप्रथम माता के गर्भ में आते ही हमने जो आहार लिया उसका नाम है 'ओज-आहार'। वह आहार माता-पिता के शुक्र और शोणित का शुद्ध संमिश्रण है। जीव उसको गर्भाशय में आते ही ग्रहण करता है। वह उसका प्रथम आहार है जो उसका सारा का सारा जीवन चलाता है। तत्पश्चात् वह माता के उदर में बढ़ता रहता है। माता जो आहार ग्रहण करती है उसके अंश में से, रस में से यत्किंचित् नसों के द्वारा आहार पहुँचता रहता है। जिस प्रकार लिफ्ट के नीचे-ऊपर लटकने वाली लोहे की शृंखलायें उसको ऊपर-नीचे पहुँचाने के लिए नियंत्रण में रखती हैं ठीक इसी प्रकार माता की जो रक्त-प्रवाहिनी नाड़ी होती है वह बच्चे को नियंत्रित रखती है। इसको लोक-भाषा में नाल कहते हैं। जन्म के समय में उसका माता की नाभि के साथ सम्बन्ध रहता है। चार अंगुल छोड़कर उसे काट दिया जाता है। उसी के अन्दर से आहार के सारे के अणु-परमाणु रस के रूप में माता के शरीर से बालक के शरीर में पहुँचा करते हैं। इस प्रवाह की विद्युत्-प्रवाह से तुलना की जा सकती है। यह सारा का सारा आहार (पर्याप्ति) जो प्रथम समय में लिया जाता है, 'ओज आहार' है। उसके बाद रोम-रोम से जो आहार-तत्त्व प्राप्त होता है उसे 'रोम आहार' कहते हैं। जन्म के पश्चात् जब बालक ग्रास के रूप में आहार लेने लगता है उसे कहते हैं 'कवलाहार'। ओज आहार तो जीवन में एक बार ही लिया जाता है और जीवनपर्यन्त चलता है। रोमों के द्वारा जो शरीर में गरमी-ठंडक-वायु आदि पोषक तत्त्व प्राप्त होते हैं, वह रोमाहार है। यह आहार जीवन पर्यंत प्रतिक्षण लिया जाता है। एक स्थान पर बैठकर पुद्गल पिंड को ग्रहण करना 'कवलाहार' कहलाता है। तेल मालिश, लेपन आदि सब कवलाहार के अन्तर्गत आ जाते हैं। ये सब पुद्गल पिण्ड ही तो हैं जिनका शरीर पर उपयोग किया जाता है। यह था सारा विवरण तीन प्रकार के आहारों का। जब आत्मा शरीर से निकल जाता है तो शरीर के असद्भाव के कारण वह अनाहारक स्थिति में रहता है। आहार पर्याप्ति के बाद में ही शरीर पर्याप्ति बना करती है। वैसे तो तेजस् और कर्मण शरीर जीव के पास रहते हैं किन्तु वे पर्याप्ति के शरीर नहीं होते। अतः उनको पर्याप्तिक शरीर नहीं कहा जा सकता। वे शरीर तो अपर्याप्तिकों के भी होते हैं किन्तु उनसे जो हमारी आवश्यकताएँ पूरी होनी चाहिए वे पूरी नहीं होतीं। इसीलिए आहार पर्याप्ति को ग्रहण करने के पश्चात् फिर औदारिक शरीर बांधना या वैक्रिय

शरीर बांधना या फिर बड़े अन्तराल में आहारक शरीर की प्राप्ति सब की सब शरीर-पर्याप्ति में समाविष्ट होती हैं।

इसके पश्चात् बड़ी दूरी पर छठी मन पर्याप्ति आती है। जब तक मन नहीं बंध जाता तब तक तो वह सन्नी होते हुए भी असन्नी है। ऐसी स्थिति में पचखाण का विधान कैसे सभव हो सकता है? मरकर जीव मनुष्य गति को भी प्राप्त करनेवाला हो तब भी वहाँ पर पचखाण की परम्परा अनवरत रूप से लागू नहीं हो सकती। वहाँ पर भी आगे जाकर जब जीव सब पर्याप्तियों से समर्थ बन जाता है, तभी पचखाण लागू होते हैं। अवधिज्ञान से युक्त मरने वाला जीव मरने के पश्चात् मनुष्यगति में नहीं जाया करता। यदि मनुष्य मरकर अवधि ज्ञान सहित मनुष्य गति में जाने वाला होता तो उस स्थिति में भी आत्मा की तत्स्वरूप आयुष्य की सीमा तक ही पचखाण चल सकता था किन्तु यहाँ तो मरने के पश्चात् स्मृति के अभाव में या स्मृति के नष्ट होने के कारण पचखाण समाप्त हो जाता है।

यदि कोई शका करे कि क्या पहले से आजीवन पचखाण लेने से आत्मा का कल्याण सभव हो सकता है? तो इसका उत्तर स्वीकारात्मक है। एक भव तक में साधकों ने आत्मा का कल्याण किया है। एक भव का समय कोई कम तो नहीं होता। बहुत लम्बा होता है एक भव तो! आत्म कल्याण तो एक अतर्मुहूर्त के अन्दर भी सभव है। अनादिकाल से जीव कृष्णपक्षी रहा है और अनादिकाल से वह मिथ्या दृष्टि रहा है। आज तक जो मिथ्यात्व का त्याग नहीं कर पाये हैं, ऐसे व्यक्ति भी एकदम मिथ्यात्व को त्याग कर पहले गुणस्थान से सीधे चौथे गुणस्थान में आ जाते हैं। चौथे से सातवें में और सातवें से फिर उत्तरोत्तर बढ़ते ही जाते हैं। अड़तालीस मिनट के समय में ही अनादिकाल से चले आ रहे मिथ्यात्व का त्याग करके आत्मा मोक्ष में चला जाता है। इस प्रकार करने वाले तो अड़तालीस मिनट में ही अपना आत्मकल्याण कर लेते हैं। फिर एक भव में यदि आत्मकल्याण होता हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

वास्तव में धर्म क्या है? धर्म मोक्ष में जाने का एक साधन ही तो है। जब हमारा लक्ष्य पूर्ण हो जाता है, हम मुक्त हो जाते हैं, तो मुक्ति के समय कर्म-बन्धन का कोई भी अणु-परमाणु हमारे साथ नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में धर्म की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। धर्म को जो काम करना था वह उस समय तक कर चुकता है। मोक्ष की स्थिति में न तो जीव का लगाव साधु-धर्म के साथ ही रहता है और न ही श्रावक-धर्म के साथ। हमारी सामान्य आत्मा की तो बात ही क्या, तीर्थंकरों के आत्मा का भी मुक्त होने के पश्चात् धर्म से कोई लगाव नहीं रह जाता यद्यपि वे धर्म के प्रतिपादक रहे हैं। उन्होंने

यद्यपि अपने आत्मा का कल्याण इसी धर्म के द्वारा किया था। जिस धर्म के द्वारा लोगों को मोक्ष की प्राप्ति होती है, उस धर्म की यदि कोई निन्दा करे, उसका खण्डन करे और उसका अपवाद करे तो मुक्तात्माओं पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। इसका कारण है कि उन मुक्तात्माओं का सांसारिक पदार्थों से और सम्बन्धों से सम्बन्ध विच्छिन्न हो चुका है। जब सब प्रकार से संसार से सम्बन्ध कट गया तो फिर यहाँ आने का कोई आशय ही नहीं। इस दिशा में हमारी श्रमण-संस्कृति उस संस्कृति से सर्वथा भिन्न है जो कहती है कि भक्तों के कल्याण के लिए भगवान् 'संभवामि युगे-युगे' युग-युग में अवतार के रूप में यहाँ पृथ्वी लोक में जन्म लिया करते हैं। श्रमण-संस्कृति में ऐसी कोई मान्यता नहीं है। धर्म चाहे रसातल को जाये, अधर्म का घट चाहे पूर्णरूप से भर जाये, सज्जनात्मा चाहे अपमानित होते हों, पापियों के अत्याचार चाहे अपनी पराकाष्ठा तक पहुँचे हों, भगवान् का इन सब बातों से क्या सम्बन्ध? भगवान् तो मुक्तात्मा है, संसार के सब झमेलों से परे है। यदि भगवान् धर्म के अभ्युत्थान के लिए और दुष्टों को दण्डित करने के लिए पुनः संसार में संचार करने लगेगा तो उसका भगवत्त्व कहाँ रह जायेगा? इस प्रकार की विचारधारा मिथ्यात्व पर आधारित है, सम्यक्त्व पर नहीं, इसलिए श्रमण संस्कृति को मान्य नहीं है। शुद्ध सम्यक्त्व की आराधना ही जैन धर्म की आधारशिला है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) ३० जुलाई, १९७९

आत्मा के तीन रूप

धर्म के आराधन में ही शाश्वत सुखों की उपलब्धि निहित है। धर्म की आराधना से ही हम आराधक बनते हैं। जैन-सिद्धान्त में आराधक और विराधक—ये दो पारिभाषिक शब्द हैं। आराधक अच्छा होता है और विराधक बुरा। आराधना करनेवाला आराधक कहलाता है। देवता की आराधना, धर्म की आराधना, गुरु की आराधना आदि विस्तृत क्षेत्र में प्रयोग होता है आराधना शब्द का। आराधना का विपरीतार्थक शब्द है 'विराधना'। आराधना शब्द जितना धर्म के क्षेत्र में प्रचलित है उतना विराधना नहीं। आराधना से भी अधिक प्रचलित शब्द साधना है। सामान्य-रूप से आराधना और साधना ये दोनों शब्द समानार्थक हैं। अमरकोश के अनुसार :

"समौ सिद्धान्तराद्धान्तौ"

सिद्धान्त कहो अथवा राद्धान्त कहो एक ही भावार्थ की अभिव्यक्ति होती है। सिद्धान्त के अन्दर साधना शब्द अन्तर्निहित है और राद्धान्त के अन्दर राधना शब्द। राधना के पूर्व 'आ' उपसर्ग लगाने से 'आराधना' शब्द की निष्पत्ति होती है।

जैन शास्त्रों में आराधना के तीन भेद बताये गये हैं : ज्ञान-आराधना, दर्शन-आराधना और चारित्र-आराधना। आराधना शब्द का वास्तविक अभिप्राय है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र—इन तीनों को जीवन में उतारने के लिए जिन-जिन नियमों की आवश्यकता है उनका पालन करना। ज्ञान की आराधना के लिए जिन-जिन बातों की आवश्यकता है उनका पालन तो करना ही किन्तु साथ ही जो बातें ज्ञान के मार्ग में बाधक हैं, विघ्न डालने वाली हैं, उनका त्याग भी करना, उनसे दूर भी रहना। दर्शन की आराधना की भी यही पद्धति है।

'दर्शन' शब्द का अर्थ बड़ा ही व्यापक है। दर्शन का सामान्य अर्थ तो देखना है किन्तु देखने की पद्धति-विशेष के लिए भी दर्शन शब्द का साहित्य में

प्रयोग किया जाता है। आँखें तो हमारी सब की प्रायः एक-जैसी ही हैं परन्तु इनके सामने आनेवाले दृश्य या पदार्थ तो एक सरीखे नहीं हैं। दृष्टि वही होती है परन्तु दृश्य भिन्न-भिन्न होते हैं। दृश्य पदार्थों की भिन्नता के कारण दर्शक के मन में भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव पैदा हुआ करते हैं। भावों या विचारों की भिन्नता के कारण देखने के तरीके में भिन्नता आना स्वाभाविक है। इसी तरीके को लोकव्यवहार तथा लोकभाषा में 'दृष्टिकोण' कहा जाता है।

'कोण' का अर्थ है कोना। मकान के प्रायः चार कोने होते हैं, कम और अधिक भी हो सकते हैं। आठ कोने भी हो सकते हैं, आठ कोनों वाले अठपहलू महल का जिक्र भी साहित्य में मिलता है। बिना कोने के भी मकान होते हैं। बिल्कुल गोल और ऊपर गुंबज के रूप में छत भी गोल। कर्णाटक में 'गोल-गुम्बज' के नाम से एक स्थान बड़ा प्रसिद्ध है। यह कर्णाटक के बीजापुर नगर में है, सात मंजिलें हैं इसकी। अन्तिम पर चढ़ने के बाद नीचे का फर्श साफ दिखायी देता है। इसका निर्माण ही एक विशेष ढंग से किया गया है। सात खण्डों के सद्भाव में भी ऊपर छत और नीचे फर्श है। अन्दर भींत के पास बैठने के लिए कुर्सी लगी हुई है। कुर्सी पर बैठने वाले मनुष्य की रिस्ट-वाच(हाथ की घड़ी) की टिक्-टिक् की ध्वनि सामने की कुर्सी पर बैठने वाले को पर्याप्त अन्तर होने पर भी स्पष्ट सुनाई पड़ती है, यह उस गोल गुम्बज की पहली विशेषता है। दूसरी विशेषता है कि सातवीं मंजिल पर चढ़कर यदि कोई व्यक्ति कोई शब्द या वाक्य बोले तो उसकी प्रतिध्वनि सात स्वरों में गूँजती है। यदि आप 'जय जिनेन्द्र' बोलेंगे तो यह प्रतिध्वनि के रूप में सात बार आपको सुनाई देगा। किसी युग में किसी संगीतप्रिय बादशाह ने सात स्वर (स, रे, ग, म, प, ध, नि) की ध्वनि के लिए ही इस गोलगुम्बज का निर्माण करवाया था।

अस्तु, बात तो कोण की चल रही थी। मकान के कोणों की संख्या सीमित हो सकती है किन्तु दृष्टिकोण की संख्या को सीमा में नहीं बांधा जा सकता। हमारी दृष्टि के जो कोण हैं वे जिस प्रकार के दृश्य देखते हैं, उसी प्रकार की विचारधारा बनाते हैं। उदाहरण के लिए हम किसी परिचित व्यक्ति को देखते हैं और अपरिचित व्यक्ति को भी। दोनों के समय दृष्टि तो एक ही है किन्तु दृष्टिकोण अलग-अलग हैं। परिचितों के अतिरिक्त हम अपने मित्रों को देखते हैं, शत्रुओं को देखते हैं और मध्यस्थ वृत्ति के लोगों को भी देखते हैं—सब को देखते समय हमारा दृष्टिकोण अलग-अलग प्रकार का होता है। माता, पत्नी, बहिन, बेटी आदि अनेक प्रकार के रिश्ते रखने वाली स्त्रियों को हम भिन्न भावों या दृष्टिकोणों से देखा करते हैं। बस, इसी का नाम दर्शन है। अंग्रेजी में इसे फिलासफी कहते हैं। ज्ञान और दर्शन का सम्बन्ध तो अटूट है। यह बात स्पष्ट हो गयी कि जिन वस्तुओं का हम को ज्ञान है उनके प्रति

हमारा दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न प्रकार का है। जिन बातों को हम जानने की दृष्टि से देखते हैं वे 'ज्ञेय' कहलाती हैं। जिनको हम छोड़ने की दृष्टि से देखते हैं वे 'हेय' कहलाती हैं। जिनको हम ग्रहण करने की दृष्टि से देखते हैं, वे 'उपादेय' कहलाती हैं। ज्ञेय, हेय और उपादेय मुख्य रूप से ये तीन ही प्रकार के पदार्थ होते हैं विश्व में। चौथा नहीं होता। भूत, वर्तमान और भविष्यत्—इन तीनों कालों को जानने वाले वीतरागियों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

ज्ञेय के भी अनेक भेद किये जा सकते हैं। यह इस प्रकार कि अमुक वस्तु इस दृष्टिकोण से ज्ञेय है और इस सीमा तक ज्ञेय है। एक ही हेय वस्तु अलग-अलग सीमा के अन्दर उपादेय भी बन सकती है। मंजिल तक पहुँचने के लिए जब तक हम अपना मार्ग तय नहीं कर लेते तब तक हम जूते पहने रहते हैं। उस स्थिति में जूते इसलिए उपादेय है कि उनके अभाव में पैरों में कांटे लग सकते हैं, कंकर चुभ सकते हैं और किसी विषैले जानवर को काटने की भी सम्भावना हो सकती है। जब हम मंजिल पर पहुँच जाते हैं और भवन में प्रवेश करने लगते हैं तो जूतों को देहली के पास उतारना पड़ता है और जूते हेय बन जाते हैं। प्रवेश करते समय 'स्वागतम्' लिखा मिलता है पायदान पर। मार्ग में चलने से पैरों पर धूल जम जाती है, कीचड़ लग जाता है—उसे हम पायदान पर साफ करके अन्दर प्रवेश करते हैं। 'पादपुञ्छण' तो हमारा धार्मिक उपकरण भी है। जो मकान पूर्णरूपेण स्वच्छ है, फर्श पर दरियाँ और गलीचे बिछे हुए हैं, घर के सदस्य भी सफाई-पसन्द हैं, वहाँ बैठने के लिए हमारे पैरों की स्वच्छता परमावश्यक है। यह स्वच्छता किसने प्रदान की ? यह सारा श्रेय पायदान को जाता है। वह पायदान भी अलग-अलग दृष्टि से उपादेय और हेय दोनों हैं। इन हेय, ज्ञेय और उपादेयों के अपेक्षाकृत दृष्टिकोणों से अनेक भेद हो जाते हैं। ये सारे के सारे दर्शन शास्त्र के विषय हैं। यह हुई रूपरेखा ज्ञान और दर्शन की।

तीसरे नम्बर पर आता है चारित्र। चारित्र का अर्थ है 'आचरण'। आचरण की निष्पत्ति आ+चरण से होती है। चरण का अर्थ पैर है और आ उपसर्ग है। इसका आशय यह है कि हमने ज्ञान भी कर लिया और दर्शन की आराधना भी कर ली किन्तु हमने जो जाना और जिस दृष्टिकोण से हमने उस पर विश्वास किया, उसको अपने जीवन में नहीं उतारा। यदि ज्ञात और विश्वस्त वस्तु जीवन में नहीं उतारी जायेगी तो हम अपनी उद्दिष्ट मंजिल पर कदापि नहीं पहुँच पायेंगे। जिस अवस्था से प्रस्थान करके हमें परिलक्षित अवस्था तक पहुँचना है वह अवस्था आत्मा की है। वर्तमान की आत्मिक अवस्था उससे कुछ भिन्न प्रकार की है। ज्ञेय पदार्थों से ज्ञान की आराधना करके हमने

किसी की प्रवृत्ति पुण्य की ओर है तो किसी की पाप की ओर। कोई शुभ प्रवृत्ति वाला है तो दूसरा अशुभ प्रवृत्ति वाला इत्यादि। इसका अर्थ है कि उस अन्तरात्मा ने भिन्न-भिन्न जन्मों में कुछ ऐसी क्रियायें की हैं जो उसको भिन्न-भिन्न प्रकार के विषयों की ओर उन्मुख करती हैं, इनको हमारे यहाँ 'कर्म' की संज्ञा दी गई है। आत्मा के साथ चिपके हुए भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म उसको भिन्न-भिन्न विषयों की ओर प्रवृत्त कराया करते हैं। सब के कर्म एक समान नहीं होते। संसार में कोई मनुष्य सुखी है, कोई दुखी है, कोई भला लगता है, कोई बुरा लगता है; कोई रूपवान है, कोई कुरूप है; कोई राजा है तो कोई रंक है—यह सब पूर्वभव कृत कर्मों का ही परिणाम है। इस विवेचन का यह भी सार है कि अन्तरात्मा में विकृति लाने वाले कर्म ही हैं। कर्मों के कारण ही संसारी आत्माएँ एक सरीखी नहीं हैं।

यदि कर्मों के मल को अन्तरात्मा से धो दिया जाये तो सब अन्तरात्मा स्वस्वरूप में एक समान बन सकते हैं। आत्मा से जब कर्म के मल को अहिंसा, संयम और तप के द्वारा धो दिया जाये तो अन्तरात्मा अपनी वास्तविक स्थिति या स्वरूप में पहुँच जाता है, 'परमात्मा' बन जाता है। परमात्मत्व आत्मा का सही स्वरूप है। परम अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा। वही आत्मा उत्कृष्ट होता है जिसमें आत्मत्व के अतिरिक्त और कुछ अवशेष नहीं रह जाता। अवशेष से यहाँ अभिप्राय है कि आत्मा से कर्म का नहीं रहने वाला अंश सर्वथा नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार से बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा—इन तीन प्रकार के आत्माओं की रूपरेखा आपके सामने प्रस्तुत की गई। आत्मा को कर्मों के मल से मुक्त करने के लिए ही हम ज्ञेय, हेय और उपादेय को क्रमशः जानने, छोड़ने व ग्रहण करने की प्रक्रिया से आराधना किया करते हैं। यही चारित्र की या आचरण की आराधना है। चारित्र की गणना तीसरे नम्बर पर आती है। चारित्र की आराधना के बिना हमारा ज्ञान और दर्शन आत्म-विकास की क्रिया में कुछ भी काम न आ सकेंगे। दूसरे शब्दों में चारित्र के बिना बहिरात्मा से प्रस्थान करके और अन्तरात्मा की अवस्था को पार करके परमात्मा की स्थिति तक पहुँचने का हमारा प्रयास सफल नहीं हो सकेगा।

शरीर को जैसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने के लिए चरण आवश्यक हैं इसी प्रकार आत्मा को परमात्मा की कोटि तक पहुँचाने के लिए आचरण परमावश्यक है। चरण शरीर का उपकरण है और आचरण आत्मा का उपकरण है। चर् धातु के व्याकरण में दो अर्थ बताये हैं, एक अर्थ तो इसका गमन करने के लिए होता है और दूसरा भक्षण करने के लिए। 'महाराज साहब आज-कल कहाँ विचरण कर रहे हैं?' यहाँ 'चर' गत्यर्थक है। 'इतनी

देर हो गई वह चरता ही जा रहा है', यहाँ चर का भक्षण या खाना अर्थ है। प्रधान रूप में खाने के अर्थ में चरने का प्रयोग पशुओं के लिए ही किया जाता है। ठीक इसी प्रकार हमारा जो आचरण है, तपश्चर्या है वह शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों को चरने वाली या भक्षण करने वाली है। यों भी कह सकते हैं कि तपश्चर्या द्वारा सभी प्रकार के कर्मों का नाश हो जाता है।

प्रारंभ से ही हमारा प्रकरण आराधना का चल रहा है। तो उपर्युक्त विवेचन संक्षिप्त रूप में यही स्पष्ट करता है कि आराधना तीन प्रकार की हुई—ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना और चारित्र आराधना। आराधना करने-वाला आराधक होता है। आराधक के लिए आगम का विधान है :

"आणाए आराहए भवइ"

अर्थात्—आराधक की आराधना आज्ञा के पालन में निहित है।

आज्ञा का पालन आराधना में इतना आवश्यक है कि साधक उसके लिए गुरु के चरणों में आत्म समर्पण कर दिया करता है। जब आत्म-समर्पण ही कर दिया तो हमारा अपने मन पर, अपनी वाणी पर, अपने कर्म पर और अपने शरीर पर अधिकार कहाँ रह गया ? प्रत्येक धार्मिक क्रिया का आरंभ ही साधक इन शब्दों से किया करता है :

"इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं
अब्भणुण्णाए समाणे"

आपसे अभ्यनुज्ञात होकर ही *मैं यह क्रिया कर रहा हूँ या इस क्रिया को करने* की इच्छा रखता हूँ। यदि आपकी आज्ञा नहीं है तो मुझे इसकी इच्छा करने का भी अधिकार नहीं है।

जब सब कुछ गुरु-चरणों में समर्पित हो चुका है, ऐसी स्थिति में आराधना का, नियमों का, क्रियाओं का, जप, तप अनुष्ठान आदि का कोई भी महत्त्व नहीं रह जाता, महत्त्व रह जाता है केवल गुरु की आज्ञा का। गुरु की आज्ञा का पालक ही सच्चा आराधक होता है। सच्चा आराधक आज्ञा की प्रधानता को लेकर चलता है। बस, इसी में उसका आत्म-कल्याण है, यही सम्यक्त्व है और सच्चा दृष्टिकोण है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) ३१ जुलाई, १९७९

मुक्ति में बन्धन या बन्धन में मुक्ति

जैसा कि हम बहुत दिनों से कहते आये हैं, शाश्वत सुखों की प्राप्ति मुक्ति से होती है और मुक्ति का अर्थ है 'बन्धनों का सर्वथा अभाव'। यदि कोई यह सोचे कि बन्धन तो केवल राग-द्वेष का होता है और राग-द्वेष से मुक्त हो गये तो बन्धन-मुक्त हो गये; ऐसा नहीं है, बन्धन का क्षेत्र तो बड़ा ही विस्तृत है। मर्यादा का भी बन्धन होता है, धर्म का भी बन्धन होता है, व्रत-पचखाण लेने का बन्धन होता है, वचन का भी बन्धन होता है, प्रतिज्ञा का भी बन्धन होता है—आदि-आदि अनेक प्रकार के बन्धन होते हैं। बन्धनों के प्रकार तो अनेक हैं किन्तु आगम-वचनों के अनुसार सब प्रकार के बन्धनों का राग-द्वेष में समावेश हो जाता है। अब विचार करने की बात यह है कि कौन-से बन्धन वास्तव में बन्धन हैं और कौन-से बन्धन वास्तव में बन्धन नहीं हैं, यद्यपि उनका नाम बन्धन अवश्य है। उदाहरण के लिए पचखाण का, सौगन्ध और प्रतिज्ञा का बन्धन, बन्धन नहीं माना जा सकता। इसका कारण है कि इनमें व्यक्ति की स्वतंत्रता निहित है। व्रत, पचखाण, सौगन्ध और प्रतिज्ञा लेने वाले श्रावक इनको अपनी स्वतंत्र इच्छा से लेते हैं, उन पर किसी भी प्रकार का दबाव नहीं डाला जाता। शास्त्र में इस भाव का समर्थन करने वाला विधान है :

"इच्छाकारेणं"

अर्थात्—मैं जो भी धार्मिक क्रिया करता हूँ, वह अपनी इच्छा से करता हूँ। इस शास्त्र-वचन में दबाव की झलक नहीं है। कोई पूछे कि प्रधानता आज्ञा की हुई या इच्छा की? इसका उत्तर है कि प्रधानता तो आज्ञा की ही रहती है किन्तु आज्ञा का पालन भी इच्छा के सद्भाव में ही होता है, दबाव डालकर नहीं। आज्ञा से भी काम दो प्रकार से करवाया जाता है—एक तो आज्ञा-पात्र की इच्छा के अनुसार और दूसरा उस पर दबाव डालकर। जहाँ दबाव डालकर काम करवाया जाता है वहाँ करने वाले की इच्छा की उपेक्षा की जाती है। वहाँ तो इच्छा हो चाहे न हो काम करना ही पड़ता है। अपनी इच्छा

से किया गया काम सुन्दर भी होता है और लाभदायक भी। इच्छापूर्वक जो किया जाता है, उसमें धर्म है, धर्म इच्छा से होता है। धर्म का कोई भी कार्य यदि हम बिना मन के या बिना इच्छा से करते हैं तो वह अधर्म होता है। सामायिक है, पौषध है, परिग्रह को कम करना है ये सारी धार्मिक क्रियाएँ हम अपनी इच्छा से करते हैं, किसी के दबाव में आकर नहीं। अपनी इच्छा से की हुई क्रिया की गणना व्रत में हो जाती है। डंडे के प्रभाव से की हुई क्रिया व्रत के अन्तर्गत नहीं आती। उदाहरण के लिए आप धनवान हैं, राजा का आदेश आ गया कि आप को इतना धन राजा के खजाने में जमा कराना होगा, राजदण्ड के भय से आपको अवशिष्ट धनराशि राजा को देनी ही पड़ेगी। यद्यपि उसमें भी परिग्रह कुछ कम ही पड़ता है किन्तु उसमें धर्म नहीं है, उसे हम धर्म नहीं कह सकते। रूस और चीन आदि साम्यवादी देशों में जब साम्यवाद की स्थापना हुई थी तब प्रजा को राजदण्ड के भय से अपनी ही धन-सम्पत्ति को छोड़ना पड़ा था। न छोड़ते तो मृत्यु थी। यदि आपके पास अधिक है, अपनी आवश्यकता से बहुत अधिक है, और आप अपनी इच्छा से उसमें से दान के रूप में दे देते हैं, अपना परिग्रह कम करते हैं तो यह धर्म है, क्योंकि इसमें आपने अपनी इच्छा से किसी सीमा तक ममत्व का त्याग किया है। यदि कोई बलात् आपको आपके धन-परतों से वंचित करता है तो वह पाप का भागी बनता है, अन्तराय कर्म को बाँधता है। इस प्रकार शास्त्रकार कहते हैं कि अपनी इच्छा से जो किया जाता है वह धर्म होता है और उसका महत्त्व इसलिए होता है कि उस इच्छा का आधार स्वतन्त्रता होती है, परतन्त्रता नहीं। *दबाव से किया गया काम बन्धन होता है, इच्छानुसार किया गया धार्मिक* बन्धन का काम बन्धन के दोष से मुक्त रहता है। दबाव से किया गया तो अच्छा काम भी बन्धन बन जाता है। यदि हम किसी को जबरदस्ती से शील का नियम दिलायें, तो शील का नियम तो अच्छा है किन्तु जबरदस्ती के प्रयोग से वह अच्छा भी बुरा एवं बन्धन रूप बन जाता है।

इच्छा से दिलाया गया नियम बन्धन से मुक्ति दिलाता है यद्यपि वह भी ऊपर से बन्धन ही प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए हमने किसी को बीड़ी न पीने के लिए सौगन्ध दिला दी। वह बीड़ी न पीने के बन्धन में तो आ गया क्योंकि उसके मन में बीड़ी पीने की तृष्णा बार-बार जागृत होती है किन्तु सौगन्ध के बन्धन के कारण वह पी नहीं सकता। सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाये तो वास्तव में बन्धन तो बीड़ी पीने का था जिसकी तृष्णा उसको रह-रहकर सता रही है। सौगन्ध बन्धन नहीं है जिसके कारण वह बीड़ी नहीं पी सकता, यद्यपि बाह्य रूप में सौगन्ध में बन्धन की प्रतीति होती है। वास्तव में तो वह जिस बीड़ी पीने के बन्धन में या व्यसन में फँसा हुआ था उससे मुक्त हो गया।

इस प्रकार प्रत्येक व्रत, प्रत्याख्यान या प्रतिज्ञा —ये सब इसलिए बन्धन स्वीकार नहीं किये जा सकते क्योंकि इनके पालन में इच्छा की स्वतंत्रता है। यह ऐसी स्वतंत्रता है कि जो परतंत्रता के बन्धन को मिटाने वाली है। जिस नियम या प्रतिज्ञा का सम्बन्ध धर्म से है वह बन्धनहीन है। धार्मिक नियमों का पालन करने से तो बन्धन की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। नियमों का पालन करने से यदि दस आँटे लगे हुए हैं तो उसके दो आँटे कम हो जायेंगे और उत्तरोत्तर जैसे-जैसे वह सांसारिक पदार्थों का त्याग करता जायेगा, उसके सारे बन्धन ही समाप्त होते जायेंगे। कोई भी बन्धन उसका आवेष्टन नहीं कर सकेगा। इस प्रकार संक्षेप में बन्धन राग-द्वेष में है, व्रत-पचखाण आदि धार्मिक क्रियाएँ जिनका आश्रय आत्मकल्याण के लिए लिया जाता है उनकी गणना बन्धनों में नहीं की जाती।

उक्त भाव को और स्पष्ट करने के लिए हमारा कहना है कि हमने किसी मर्यादा का, किसी सौगन्ध का या किसी व्रत का समय की निश्चित सीमा तक पालन करने का नियम ले लिया। उस नियम का नियमित रूप से निरन्तर अनेक वर्षों तक हम पालन इस पद्धति से करते रहे कि वह हमारे जीवन का अंग बन गया। हमारे मन में वह ऐसे घर कर गया कि उसके बिना हमें चैन नहीं पड़ती और उसकी एक दिन की उपेक्षा से भी हमें अपना दैनिक जीवन अपूर्ण और विस्खलित अनुभव होने लगता है। उदाहरण के लिए हमने सामायिक का ही नियम ले लिया। नियम में बँधने के कारण हमारा मन उसे किये बिना शान्ति प्राप्त नहीं करता। इसका कारण यही है कि सामायिक के नित्याचरण से वह हमारे स्वभाव की एक अंग बन गई है। अंग बनने का अर्थ है कि हम उसका त्याग नहीं कर सकते, त्याग न करने का अर्थ है कि हमारा उसके प्रति राग हो गया है। राग का होना तो बन्धन रूप है। साधक को चाहिए कि वह किसी वस्तु के प्रति राग न रखे।

एक बार एक गुरु ने अपने शिष्य से कहा, "तुम जिस धार्मिक क्रिया को चिरकाल से करते आ रहे हो, उसका तो त्याग कर दो और उसके स्थान पर अमुक सन्त की सेवा करो।" इसके उत्तर में शिष्य ने कहा, "जिस काम को मैं चिरकाल से करता आ रहा हूँ उसके बिना मेरा मन नहीं लगता, इसलिए मैं तो उसका परित्याग कर ही नहीं सकता।" किसी तीसरे पास में खड़े व्यक्ति ने कहा, "अरे ऐसा कैसे कहता है, अब तक जो करता आ रहा है, वह भी तो गुरु की आज्ञा से ही करता रहा है। अब गुरु तुम्हारी परीक्षा लेना चाहते हैं कि तुम्हारा विशिष्ट काम के प्रति मोह तो नहीं हो गया है, बस इतनी-सी बात है, तुम गुरु की आज्ञा का उल्लंघन क्यों करते हो? गुरु यह जानना चाहते हैं

कि जो तुम धार्मिक क्रिया कर रहे हो वह आत्मकल्याण के लिए कर रहे हो या दूसरों को अपनी श्रेष्ठता बताने के लिए कर रहे हो ? इसके अतिरिक्त गुरु यह भी जानना चाहते हैं कि हमारा शिष्य जो भी धार्मिक क्रिया कर रहा है यह लोगों से प्रतिष्ठा पाने के लिए कर रहा है या लोकैषणा से दूर रहकर कर रहा है। गुरु कोई भी आज्ञा दें, उसका पालन करना शिष्य का धर्म है।" गुरु की आज्ञा का जैनागमों में बड़ा महत्त्व है। अरिहन्त-प्ररूपित धर्म में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि गुरु की आज्ञा शिरोधार्य होनी चाहिए क्योंकि गुरु की आज्ञा का पालन करने वाला ही सच्चा आराधक माना जाता है।

आराधक या श्रावक की योग्यता को ध्यान में रखकर ही धर्म की व्यवस्था की जाती है। यही कारण है कि किसी को कम और किसी को अधिक नियम-पालन का विधान है। जो व्यक्ति स्वयं प्रबुद्ध है, विचक्षण है और हानि-लाभ को समझने वाला है, उसके लिए अधिक कायदे कानून बताने की आवश्यकता नहीं होती। वह स्वयं ही ऐसी प्रवृत्तियाँ नहीं करता जो उसके लिए हानिकारक हो। वह क्रोध इसलिए नहीं करता क्योंकि वह क्षमा के महत्त्व को भलीभाँति समझता है। साधु भी एक प्रबुद्ध आत्मा है। उससे भी यही आशा रखी जाती है कि वह क्रोध का स्थान क्षमा को दे। परन्तु इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि साधु की क्षमा के पीछे भी कई प्रकार की भावनाएँ हो सकती हैं। एक साधु यह सोच सकता है कि उसे क्षमा इसलिए करनी चाहिए क्योंकि उसके ऐसा न करने से लोग उसकी निन्दा करेंगे। दूसरा यह सोच सकता है कि क्षमा न करने से आत्मा को क्रोध का दाग लगेगा, पाप लगेगा, इसके अतिरिक्त क्रोध का परिणाम भी बड़ा कड़वा होता है, पता नहीं कितने समय तक भोगना पड़ेगा। तीसरा यह सोच सकता है कि क्रोध करने से खून में उफान आता है और परिणामस्वरूप खून पानी में भी परिवर्तित हो सकता है जिसका अर्थ है जीवन का अन्त। विवेकशील, ज्ञानवान सन्तात्मा क्रोध न करने का चिन्तन और प्रकार से करता है। वह सोचता है, "मेरा वास्तविक स्वभाव तो क्रोध नाम के विकार से रहित है। क्रोध करना तो विभाव है। मोह कर्म के उदय होने से ही क्रोध आया करता है। कर्म के उदय से प्राप्त होने वाली वस्तु आत्मा की नहीं हो सकती। मैं तो निजात्म में स्थित हूँ। मैं कर्म के उदय की कठपुतली नहीं हूँ। किसी के भड़काने से मैं भड़कने वाला नहीं हूँ।"

इस प्रकार क्षमा करने वाले साधकों के या क्रोध न करने वाले श्रावकों के भाव भी अलग-अलग प्रकार के हो सकते हैं। तो हम आपसे कह रहे थे कि चिरकाल से अभ्यस्त क्रिया हमारे स्वभाव की अंग बन जाती है। कई बार ऐसी भी स्थिति आती है कि हमको उसे छोड़ना पड़ता है। यदि उसके त्यागने

की सामर्थ्य हो तो वह बन्धन रूप नहीं बनती। यदि गुरु की आज्ञा के सद्भाव में भी उसको छोड़ा नहीं जा सकता तो वह, भले ही कैसी भी धार्मिक क्रिया हो, बन्धन बन जाती है। इसका कारण है कि साधक का उस पर राग हो जाता है। धर्म के जो प्रवर्तक थे उन्होंने तो धर्म के ऊपर भी राग नहीं रखा, धर्म की क्रियाओं की तो बात ही क्या है। धर्म को किसी व्यक्ति-विशेष ने पैदा नहीं किया। तीर्थंकरों ने भी धर्म का प्रतिपादन किया है, उसको उत्पन्न नहीं किया। धर्म तो अनादिकाल से चला आ रहा है। इसी प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्व को भी किसी ने पैदा नहीं किया।

शास्त्रों में उल्लेख है कि एक बार भगवान् से किसी ने प्रश्न किया कि "सम्यक्त्व की उत्पत्ति पहले हुई अथवा मिथ्यात्व की ?"

भगवान् ने इसका उत्तर देते हुए कहा, "किसी व्यक्ति की अपेक्षा से देखा जाये तो पहले मिथ्यात्व था और तत्पश्चात् सम्यक्त्व आया।" कोई भी आत्मा पहले से या अनादिकाल से मिथ्यात्वी होता है। सम्यक्त्व की स्थिति तो बाद में आती है। सम्यक्त्वी पैदा नहीं होते, मिथ्यात्व का त्याग करने वाले ही साधना द्वारा सम्यक्त्वी बनते हैं। इसी प्रकार धार्मिक लोग पैदा नहीं हुआ करते, धर्म की आराधना करने से धार्मिक बनते हैं। साधु, श्रावक, ब्राह्मण, क्षत्रिय—आदि सब जन्मते नहीं किन्तु कर्म के द्वारा बनते हैं। सब आत्माओं की अपेक्षा से देखा जाये तो न मिथ्यात्व पहले का है और न ही सम्यक्त्व बाद का। जब से सम्यक्त्व की सत्ता है तभी से मिथ्यात्व की। अनादिकाल की अपेक्षा से भी कोई पहले और बाद का नहीं है। पहले यदि सम्यक्त्व ही होता तो मिथ्यात्व के अभाव में हम उसे सम्यक्त्व कहते ही कैसे ? दोनों की सत्ता एक-दूसरे पर निर्भर है, या यों कहो कि दोनों शब्द अन्योन्याश्रित हैं।

तो हम कह रहे थे कि धर्म किसी का बनाया हुआ नहीं है, यह तो तीर्थंकरों द्वारा बताया हुआ धर्म है। धर्म के सब विधि-विधानों को तीर्थंकरों ने अभिव्यक्तिमात्र दी है, उनकी निष्पत्ति नहीं की है। कुछ लोग इस धर्म की आराधना 'यावज्जीव' अर्थात्—जीवन पर्यन्त करते हैं। जीवन की समाप्ति पर उनकी सारी धार्मिक मर्यादाएँ भी समाप्त हो जाती हैं। कुछ आत्माएँ ऐसी भी होती हैं जिनको मर्यादाओं का दीर्घकाल तक पालन करना ही नहीं पड़ता। आठ प्रकार के कर्मों के क्षय से केवल ज्ञान प्राप्त हो गया, मुक्त हो गये। मुक्तावस्था में आत्मा निष्क्रिय हो जाता है। उसको किसी भी प्रकार का पुण्य-पाप नहीं लगता। वह सामर्थ्यवान कहलाता है। ऐसे ही मुक्तात्मा के लिए कहा गया है :

"समरथ को नहिं दोष गुसांई"

मुक्तात्मा तो कुछ करते नहीं अतः वे दोष के भागी नहीं बनते किन्तु ऐसी

धारणा— कि जीव संसार के कामों में उलझा रहे और फिर भी उसके लिए यह धारणा बनाई जाये कि उसको कोई दोष नहीं लगेगा, उसको कोई कर्म का बन्धन नहीं होगा सर्वथा मिथ्या है। जो कर्म करेगा वह राग से मुक्ति नहीं पा सकता, बिना राग से मुक्ति के मुक्तावस्था संभव नहीं है।

कोई व्यक्ति राग का पोषण करता हुआ यह कहे कि अमुक काम तो मेरे बिना हो ही नहीं सकता, यह तो मुझे करना ही पड़ेगा तो उसकी यह धारणा सर्वथा भ्रामक है। कोई भी काम जो होना होता है वह तो होता ही है, मनुष्य तो उसमें एक निमित्त बनता है। जब सब जनता के उद्धार का समय आता है तो तीर्थंकरों का जन्म हो जाता है। उस समय प्रान्त और देश के अनेक जनों को तिरने का योग मिल जाता है। जो भी काम होता है उसमें दो बातें रहती हैं : एक मुख्य और एक गौण। किन्तु काम के सम्पादन में केवल दो ही चीजें नहीं होतीं किन्तु पांच होती हैं, ऐसा शास्त्र में उल्लेख है। एक तो होता है—काल। काम के होने का जब समय आता है तभी काम होता है, अन्यथा नहीं। दूसरा होता है—स्वभाव। जैसा जिसका स्वभाव होगा वैसा ही फल लगेगा। तीसरी बात है—नियति, जिसको होनहार के नाम से भी जाना जाता है। फल लगने का योग होता है तभी फल लगा करता है, अन्यथा नहीं। पुरुष मात्र नियति के सहारे नहीं बैठ सकता। वह कार्यसिद्धि के लिए पुरुषार्थ, उद्योग और अन्य सभी प्रकार की क्रियाएं किया करता है। परन्तु उसके पुरुषार्थ और उद्योग के सद्भाव में भी यदि सफलता उसे नहीं मिल पाती तो यही समझना चाहिए कि नियति को सफलता मंजूर नहीं है।

इस प्रकार पांच बातों के एकत्र होने को समवाय कहते हैं। ये पांचों बातें समवाय के रूप में एकत्र होती हैं तभी कार्य में सफलता मिलती है। इन पांचों बातों में एक बात भी प्रमुखता का स्थान नहीं रखतीं, सबका संयोग होना ही अपेक्षित होता है।

उदाहरण के लिए इस मकान को ही लीजिये। इसका निर्माण किसी एक वस्तु से तो नहीं हुआ। चूना, पत्थर, लोहा, कंकर आदि अनेक वस्तुओं का समवाय है इसमें। उक्त सारी वस्तुओं के ढेर लगाने से भी मकान नहीं बन जाता, सबके यथास्थान प्रयोग से और निर्माता के चतुराई पूर्ण विधि-विधान से ही निर्माण होता है। इस प्रकार हमारा कहने का अभिप्राय है कि वस्तुओं के उचित संयोग और सुचारु रूप के प्रयोग से किसी वस्तु का निर्माण है। तीर्थंकरों को केवल दर्शन और केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। मानव, देव, पशु-पक्षी आदि अनेक प्रकार के प्राणी वहाँ एकत्रित हो गये। सबका समवाय और भाषा-वर्गणा के पुद्गल आदि सब योगों के उपस्थित होने पर ही उन्होंने धर्म-चक्र का प्रवर्तन किया। पहले उन्होंने स्वयं छद्मस्थावस्था में जप, तप आदि

की साधना की। उन्होंने धर्म के वास्तविक स्वरूप को अनेक प्राणियों के समक्ष अभिव्यक्त किया। धर्म की अभिव्यक्ति के सद्भाव में भी उनके मन में धर्म के प्रति राग विद्यमान नहीं था। वे तो वीतराग थे। राग से परे थे। वे इस प्रकार की चिन्ता से भी सर्वथा मुक्त थे कि उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म आगे चलेगा भी या नहीं। यदि नहीं चलेगा तो उसके लिए क्या प्रयत्न होना चाहिए इत्यादि सांसारिक बातों से वे सर्वथा मुक्त थे। यदि मुक्तावस्था को पहुँचा हुआ आत्मा भी इस प्रकार की चिन्ता करेगा तो उसे मुक्त कैसे समझा जा सकता है।

सम्यक् दृष्टि रखनेवाला तभी तक सांसारिक वस्तुओं के साथ सम्बन्ध रखा करता है जब तक उसकी आत्म-कल्याण की साधना चरम सीमा तक नहीं पहुँच जाती है। उसके पश्चात् संसार से उसके सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं। मुक्तात्मा एक बार संसार से मुक्त होकर पुनः उसकी ओर प्रवृत्त नहीं हुआ करते, जैसी कि कुछ धर्मों की धारणा है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) — १ अगस्त, १९७९

२५

क्या श्रद्धा मुक्ति की सोपान है ?

मुक्ति शाश्वत सुखों की जननी है। जब तक आत्मा बन्धन में है, सुख की आशा करना उसके लिये व्यर्थ है। सुख प्राप्ति के लिए बन्धन-मुक्त होना परमावश्यक है और बन्धन-मुक्ति के लिए धर्म की आराधना जरूरी है। धर्म की आराधना के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता तो शुद्ध दृष्टिकोण की है। शुद्ध दृष्टिकोण को हम दूसरे शब्दों में सम्यक्त्व की प्राप्ति कह सकते हैं। त्याग, व्रत, पच्चखाण के अभाव में भी यदि यह ज्ञान हो जाता है कि अमुक वस्तु जानने योग्य है, अमुक वस्तु त्यागने योग्य है और अमुक वस्तु आदरने योग्य है—तो इसका बड़ा महत्त्व है। महत्त्व इसलिए कि व्यक्ति के शुद्ध श्रद्धान की झलक उसमें रहती है। श्रद्धान होगा तो व्यक्ति अपने दृष्टिकोण की बातों को जीवन में उतारेगा। आचरण से पूर्व ज्ञेय, हेय और उपादेय को समझना अत्यावश्यक है। जो व्यक्ति किसी की बातों में आकर, किसी की युक्तियों से प्रभावित होकर या बहकावे में आकर अपने श्रद्धान का त्याग नहीं करता, उसकी मान्यता को दृढ़ समझना चाहिए। उस व्यक्ति की श्रद्धा और विश्वास प्रशंसनीय समझने चाहिए। क्रियात्मक रूप में उस व्यक्ति ने भले ही किसी वस्तु का त्याग न किया हो, छोड़ने लायक वस्तु को आंशिक रूप में भी न छोड़ा हो और आदरने लायक का आंशिक रूप में भी आदर न किया हो परन्तु उसका विश्वास यदि दृढ़ है तो देवता क्या संसार की कोई भी शक्ति उसे उसकी मान्यता से विचलित नहीं कर सकती। इसी को सम्यक्त्व कहते हैं और इसी का नाम है श्रद्धा। यह कहना कि व्रत, पच्चखाण के अभाव में कोरी श्रद्धा किस काम की, ठीक नहीं है क्योंकि यदि श्रद्धा ही शिथिल है तो व्रत, पच्चखाण किस काम के ? वे किसी समय भी किसी के बहकावे में आकर शिथिल पड़ सकते हैं। उनका कुछ भी फल मिलने वाला नहीं है। व्रत, पच्चखाण के अभाव में भी दृढ़ मान्यता रखने वाला ही यह सोच सकता है कि, "त्यागने योग्य को त्यागे बिना और आदरने योग्य को आदरे बिना मुझे सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। वह दिन मेरे लिए परम कल्याणकारी होगा जिस दिन मैं त्यागने

लायक को त्याग दूंगा और आदरने लायक का आदर करूंगा।" इस प्रकार की दृढ़ मान्यता का ही दूसरा नाम श्रद्धा है। मारवाड़ी भाषा में इसे 'सरधा' कहते हैं। मनुष्य में 'सरधा' होगी तभी तो वह कुछ कर सकेगा, सरधा नहीं है तो वह कुछ भी नहीं कर सकेगा। बीमारी आती है तो सरधा चली जाती है। बीमारी के मिटने के बाद भी सरधा एकदम नहीं आ जाती। यहाँ 'सरधा' शब्द शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सरधा का महत्त्व आपको समझ में आ गया होगा। सरधा-शक्ति है तो सब कुछ है, सरधा नहीं है तो कुछ भी नहीं है। इस संसार में शक्तिहीन को कौन पूछने वाला है? इस सरधा का सम्बन्ध शरीर से है। यह वह सरधा है जो बीमारी आने से कम पड़ जाती है, बुढ़ापा आने से न्यून हो जाती है, पौष्टिक आहार के अभाव में घट जाती है और पथ्यपूर्वक जीवन का संचालन न करने से चली जाती है। शारीरिक श्रद्धा के अभाव में शक्ति, पौरुष और उद्यम सब नाकामयाब हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार दृढ़ विश्वास या स्थिर रहने वाली मान्यता आत्मा की श्रद्धा होती है। त्यागने लायक को त्याग देना, आदरने लायक को आदरना—इस दृढ़ श्रद्धा या विश्वास के बिना आत्मकल्याण सम्भव नहीं है।

जो छोड़ने लायक है वह किसी भी अपेक्षा से ग्राह्य नहीं हो सकता। यहाँ स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का सिद्धान्त लागू नहीं होता। स्याद्वाद का सिद्धान्त वहाँ घटित होता है जहाँ पारस्परिक विरोध नहीं होता किन्तु वस्तुओं में विरोध की प्रतीतिमात्र होती है। जैसे किसी ने कहा कि "क्षमा करने से आत्मा का कल्याण होता है।" बात बिल्कुल ठीक है। दूसरे ने कहा, "क्षमा के साथ व्यक्ति निर्लोभ भी हो तब आत्मकल्याण संभव है, अकेली क्षमा से काम नहीं चल सकता।" यह बात भी सत्य है। क्षमा और निर्लोभता की आत्मकल्याण के लिए इसलिए अवश्यंभाविता हो सकती है क्योंकि ये दोनों तत्त्व पारस्परिक विरोधी नहीं हैं। यहाँ निस्सन्देह अनेकान्तवाद लागू होता है परन्तु कोई यह कहे कि "अकेली क्षमा को लेकर चलने वाला व्यक्ति तो एकान्तवादी होगा, क्रोध करने से भी आत्मकल्याण होता है, ऐसा मानने से ही अनेकान्तवादी बना जा सकता है।" यह बात मानने योग्य नहीं, यह तो अनेकान्तवाद के सिद्धान्त के विपरीत है। इसका कारण है कि अनेकान्तवाद सर्वथा विरोधी बातों का समन्वय नहीं करता। अनेकान्तवाद तो वहीं घटित होता है जहाँ दो वस्तुएँ एक-दूसरे की पूरक हों। अनेकान्तवाद की व्यवस्था सहायक तत्त्वों में सामंजस्य स्थापित करती है। जहाँ मूल तत्त्वों में ही पारस्परिक विरोध होगा वहाँ स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का उपयोग नहीं किया जा सकता। कोई कहे कि तुम तो ब्रह्मचर्य को ही धर्म मानकर चलते हो, इसलिए एकान्तवादी हो, तुम्हें अनेकान्तवादी बनने के लिए तो मैथुन को भी धर्म मानना चाहिए, ऐसा

अनेकान्तवाद तो मिथ्या अनेकान्तवाद है। यह इसलिए कि ब्रह्मचर्य और मैथुन —ये तो दोनों विरोधी तत्त्व हैं। हां, यदि कोई कहे कि तुम अकेले ब्रह्मचर्य को लेकर क्यों चलते हो, आत्मकल्याण के लिए सन्तोष नाम के तत्त्व को भी साथ लेकर चलो, तब वहाँ अनेकान्तवाद का सिद्धान्त लागू हो सकता है। इसी प्रकार कोई कहे कि अकेले ब्रह्मचर्य का पालन करने से ही आत्मकल्याण नहीं होता यह तो एकान्तवादी होने वाली बात है, साथ साथ परिग्रह का भी त्याग होना चाहिए तभी साधक अनेकान्तवादी बन सकता है—उक्त कथन में भी वास्तविकता है क्योंकि आत्मकल्याण के लिए सन्तोष और अपरिग्रह ये ब्रह्मचर्य व्रत के विरोधी नहीं किन्तु उसके पोषक हैं। यहाँ अनेकान्तवाद का सिद्धान्त लागू हो जाता है।

तो हमारा प्रसंग चल रहा था आत्मा की श्रद्धा का कि आत्मिक श्रद्धा इतनी दृढ़ होनी चाहिए कि साधक को कोई भी व्यक्ति बातों में फँसाकर या फुसलाकर उसे श्रद्धा से डिगा न सके, विचलित न कर सके और पतित न कर सके। जो श्रावक इस प्रकार की दृढ़ श्रद्धा का धनी है वह किसी न किसी समय अनुकूल वातावरण पाकर क्रिया अवश्य करेगा। धर्म में प्रवृत्ति भी करेगा और व्रत-नियमों को लेकर उनका पालन भी करेगा। इसीलिए मूल वस्तु श्रद्धा है। मारवाड़ी भाषा में इसी भाव को व्यक्त करने वाली एक कहावत है :

"हूर बिना गांवतरों कोनी होवे"

अर्थात्—मन के अन्दर यदि लगन होगी कि हमें वहाँ जाना है, तो निश्चित ही किसी दिन हमारे कदम उस ओर बढ़ ही जायेंगे। यदि हम उस हूर से, लगन से या श्रद्धा से ही हीन हैं तो हमारी प्रवृत्ति उस ओर कदापि नहीं हो सकेगी। अतएव श्रद्धा की दृढ़ता और दृष्टिकोण की निर्मलता—ये धार्मिकता के पूर्व लक्षण हैं। यह प्रथम प्रकार के धर्म की आराधना है।

दूसरे प्रकार में, आंशिकरूप में या सामान्य रूप में छोड़ने लायक को छोड़ा जाता है और आदरने योग्य को ग्रहण किया जाता है। इतना ग्रहण करना जैसे कि सागर में से एक बिन्दु और छोड़ना भी बिन्दु की मात्रा का ही। इसको कहते हैं श्रावकधर्म। साधु बीस विस्वा दया, बीस विस्वा सत्य, बीस विस्वा अदत्तादान, बीस विस्वा ब्रह्मचर्य और बीस विस्वा ही अपरिग्रह —इन पाँच महाव्रतों को धारण करता है। इस प्रकार उसकी क्रिया तो घात-प्रतिघात हो गई किन्तु श्रावक के हिस्से में तो सवा छह प्रतिशत क्रिया हो आई। श्रावक ने तो त्यागने लायक समुद्र में से केवल बिन्दुमात्र का ही त्याग किया और ग्रहण करने योग्य में से भी उसने बिन्दु मात्र का ही ग्रहण किया। इसी अल्पग्रहण और अल्पत्याग के कारण श्रावक को 'देशविरति' कहते हैं। उसने

तो विरमण आंशिकरूप से किया। यह धर्म की आराधना का दूसरा प्रकार है।

धर्म की आराधना का तीसरा प्रकार है 'सर्वविरति'। इसमें जो त्यागने लायक होता है, वह सभी त्याग दिया जाता है और जो आदरने लायक होता है, वह आदर लिया जाता है। इतना करने के पश्चात् भी साधक को प्रमाद के कारण से, असावधानी के कारण से और योगों की चंचलता के कारण से थोड़ा-बहुत दोष लग ही जाता है। यह सब गुणस्थान के प्रमादी होने के कारण होता है। अप्रमत्त अवस्था तो थोड़े-से समय के लिए ही आया करती है। वह तो अस्थायी है। प्रमादावस्था चिरकाल तक बनी रहती है। धर्म की आराधना की यह तीसरी श्रेणी है जिसमें 'सर्वविरतिपन' है। प्रत्याख्यानी का चौक इसमें समाप्त हो जाता है।

अनन्तानुबन्धी का चौक समाप्त होते ही सम्यक्त्व में दृढ़ता आ जाती है। यह शुद्ध श्रद्धा की अवस्था होती है। अप्रत्याख्यानी का चौक समाप्त होने से उसकी देशविरति में प्रवृत्ति होती है और प्रत्याख्यानी का चौक समाप्त होने से साधक साधु बन जाता है। चौकों की संख्या चार है, तीन का विवरण समाप्त हो गया। चौथा चौक है 'संज्वलन'। संज्वलन की व्याख्या करते हुए आगमकार कहते हैं कि साधु को साधना करते समय, तप और जप करते समय, क्रियानुष्ठान के समय कुछ उपसर्ग होते हैं, कुछ क्रिया में बाधाएँ पड़ती हैं। उस समय मन में थोड़ा-सा मलिन भाव आ जाता है। इसको रागभाव की अवस्था भी कह सकते हैं। इन उपसर्ग और बाधाओं के समय जो मन में विकृति आती है वह अल्प होते हुए भी वीतराग की अवस्था में हानि पहुँचाती है। साधक का भाव भले ही अपने लिए न हो, धर्म के लिए हो या धर्माराधकों के लिए हो तो भी वीतरागावस्था में वह बाधक तो होता ही है। साधक में ऐसा भाव आना उसके हृदय में राग की सत्ता का द्योतक है। इसका अर्थ दूसरे शब्दों में यह हुआ कि उसके मन में धर्म शत्रुओं के प्रति द्वेष की भावना है और धर्माराधकों के प्रति राग की भावना।

शास्त्रकारों ने इस धार्मिक परिस्थिति पर भी प्रकाश डाला है। साधु की निन्दा एक तो स्वमतावलम्बी करते हैं और दूसरे परमतावलम्बी करते हैं। दोनों उसके निन्दक हैं। ऐसे लोगों को शास्त्रकारों ने चार भागों में बाँटा है। जो साधु स्वमति और परमति दोनों द्वारा दिये जाने वाले उपसर्गों को समभाव से सहन करता है वह सर्वाराधक कहलाता है। जो साधु न तो स्वमति द्वारा की गई आलोचना को सहन करता है और न ही परमति द्वारा की गई आलोचना को, उसको सर्वविराधक के नाम से जाना जाता है। तीसरे प्रकार का साधु वह होता है जो परमतावलम्बियों द्वारा की गई टीका-टिप्पणी को तो सहन नहीं करता किन्तु स्वमतावलम्बियों द्वारा दिये जाने वाले उपसर्गों

को सहन कर लेता है, ऐसे साधु को शास्त्रकार देश-आराधक कहते हैं। जो परमतावलम्बियों द्वारा की गई निन्दा को तो सहन कर लेता है किन्तु स्वमतावलम्बियों की नहीं, उसे देश-विराधक कहते हैं।

देश आराधक को बड़ा समझना चाहिए या देश-विराधक को ? देश-विराधक का अर्थ है कि थोड़े अंशों में तो वह विराधक है और बहुत अंशों में आराधक है। देश आराधक का अर्थ है कि थोड़े अंशों में तो वह आराधक है और बहुत अंशों में विराधक है। अब इन दोनों में कौन-सा अधिक प्रशस्त है ? इसका उत्तर यही है कि देश-विराधक श्रेष्ठ है क्योंकि वह थोड़े ही अंशों में विराधक है, शेष अंशों में तो आराधक है ही। परमतावलम्बी जो साधु की निन्दा करते हैं, टीका-टिप्पणी करते हैं और उपसर्ग देते हैं उनको तो वह इसलिए सहन कर लेता है क्योंकि वह जानता है कि वे अज्ञानी हैं, बोधहीन हैं और वस्तुस्वरूप के ज्ञान से वंचित हैं। ऐसे आलोचकों को वह क्षन्तव्य समझकर क्षमा कर देता है। किन्तु अपने व्यक्तियों की आलोचना को वह सहन नहीं करता। उसका स्वमतावलम्बियों की आलोचना सहन न करना इस बात का द्योतक है कि उसके चारित्र में किसी भी प्रकार की त्रुटि नहीं है। स्वमतावलम्बियों द्वारा दिये जाने वाले उपसर्गों के लिए की जाने वाली निन्दा को वही व्यक्ति सहन करेगा, जिसके चारित्र में कुछ न कुछ त्रुटि है, जिसका साधक-जीवन कलंकित है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि स्वमतावलम्बियों द्वारा की गई टीका-टिप्पणी को सहन कर लेना साधु के लिए उचित नहीं है। उसका ऐसा करना उसकी क्रिया के अन्दर दोष का सूचक है। यह है चार भागों वाली चौभंगी :(१) सर्वाराधक, (२) सर्वविराधक, (३) देश-आराधक और (४) देश-विराधक।

शास्त्र का कथन है कि 'संज्वलन' के चौक में अपने संयम के प्रति, अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रति साधक का राग रहता है। राग के कारण वह दूसरे की बात को सहन नहीं करता। धर्म की निन्दा को वह सहन नहीं करता और धर्म की टीका-टिप्पणी को भी वह सहन नहीं करता। वह यह भी सहन नहीं करता कि चलते हुए बैल को व्यर्थ में ही आर चुभाई जाये। इस तरह के राग के भाव को भी शास्त्रकारों ने वीतरागता में बाधक माना है। इस प्रकार के राग से इस बात का भी पता चलता है कि साधक का मोहनीय कर्म पूर्णरूप से समाप्त नहीं हुआ है।

"स्नेहानुबद्धहृदयो

अर्थात्—जिसका हृदय ज्ञान और
का अनुबन्ध है, ज्ञान और चारित्र

वह प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। इस पर एक दृष्टान्त स्मरण हो आया है :

"दीपक प्रकाश करता है और अन्धकार का नाश करता है। उस प्रकाश का आधार तो तेल है। तेल तो दुःख है, तेल तो स्नेह है, तेल चिकना है और चिकनेपन को ही शास्त्रीय भाषा में राग कहा जाता है। आसक्ति इसी का दूसरा नाम है। एक नीतिकार का कथन है :

> यस्य स्नेहो भयं तस्य, स्नेहो दुःखस्य भाजनम्।
> स्नेहमूलानि दुःखानि, यानि त्यक्त्वा सुखं भजेत्॥

अर्थात्—

जहां स्नेह है वहां चिकनाहट है, वहीं भय है। इस प्रकार स्नेह तो दुःख का कारण है। संसार में जितने भी दुःख हैं वे सारे के सारे स्नेह के कारण ही होते हैं। इसलिए मानव, जो उन दुःखों से मुक्ति चाहता है, उसे चाहिए कि वह स्नेह का त्याग कर दे।

वालू और राख बिल्कुल रूखे होते हैं। उनमें चिकनाहट का अभाव होता है। चिकनाई को वालू और राख से साफ किया जाता है। वालू और राख दुःख रूप नहीं है। सरसों या तिल जिसमें कि चिकनाई है उन चिकनाई वाली वस्तुओं को घानी में डाला जाता है और कोल्हू द्वारा पेला जाता है। स्नेह के कारण ही उन वस्तुओं को पिलना पड़ा। दीपक जलता है, प्रकाश करता है, तेल के आधार पर। अन्धकार का नाश करके और प्रकाश प्रदान करके उसने पैदा क्या किया? पैदा किया काजल। काजल तो अच्छा नहीं है, वह तो काला है परन्तु कवि की कवित्व की भाषा में काजल को भी यदि अनुकूल पात्र मिल जाये तो वह भी अपना कम महत्त्व व्यक्त नहीं करता। किसी कवि ने ठीक ही तो कहा है :

> संगत शोभा पाइये, सांच कहै कवि वैन।
> वो ही काजल ठीकरी, वो ही काजल नैन॥

अर्थात्—

जब तक काजल ठीकरी के ऊपर है, तब तक लोग उससे परहेज करते हैं। उससे इसलिये दूर रहना चाहते हैं कि कहीं वस्त्र को लग गया तो काला कर देगा। वही काजल जब ठीकरी से अलग होकर किसी सुन्दरी की आंखों में बड़ी चतुराई से आंजा जाता है तो लोग कहने लगते हैं : "दो तितलियां लड़ते-लड़ते कुए में पड़ गयीं।" अधिक काजल डाला हुआ भद्दा लगता है, इसी भाव को उक्त आलंकारिक भाषा में कहा गया है। काजल डालना भी हर एक को नहीं आता। सोलह शृंगारों में इसको भी एक कला माना गया

है। इस प्रकार शास्त्रों की संगति पाकर ही काजल ने शोभा प्राप्त की। एक आचार्य की इस पर उक्ति है :

> स्नेहानुबद्धहृदयो ज्ञान चारित्रान्वितोऽपि न श्लाघ्य ।
> दीप इव आपादयिता कज्जलमलिनस्य कार्यस्य ॥

अर्थात्—

दीपक प्रकाश फैलाता है और अन्धकार का नाश करता है किन्तु तैलाश्रित होने से स्नेह-चिकनाई का उसमें तत्व है, इसी कारण इतना अच्छा काम करने पर भी *वह कज्जल ही पैदा करता है।*

इसी भाव की पुष्टि करते हुए एक अन्य कवि ने कहा है

> यादृशं भक्षयेदन्नं तादृशं जायते मनः।
> दीपो भक्षयते ध्वान्तं कज्जलं च प्रसूयते॥

अर्थात्—

मनुष्य जैसा अन्न खाता है, वैसा ही उसका मन बन जाता है। दीपक को देखो, उसका आहार अन्धकार है और परिणामस्वरूप वह काजल ही पैदा करता है। "जैसा खायें अन्न वैसा होवे मन" यह उक्ति भी इसी उक्ति से निकली प्रतीत होती है।

इसी तरह अनेक प्रकार के प्रत्याख्यान एवं तप की क्रियाएं होने पर भी यदि उनके प्रति राग है, स्नेह है, तो वह संयम 'सराग-संयम' कहलाता है। सराग-संयम वीतरागता में बाधा पहुँचाने वाला होता है। सरागता के अस्तित्व में सर्वज्ञता का आना कदापि संभव नहीं होता। सर्वज्ञता के बिना साधना की सिद्धि को कैसे सफल माना जा सकता है? जब वीतरागता आती है उस समय साधक का किसी भी वस्तु के साथ लगाव नहीं रह जाता। इसी जन्म में यदि कोई धर्म की निन्दा करता है, अपनी निन्दा करता है या अपने अनुयायियों की निन्दा करता है तो उस वीतराग या सर्वज्ञ के मन में किसी प्रकार का निन्दक के प्रति पक्ष या विपक्ष का भाव उत्पन्न नहीं होता। यद्यपि उनके शरीर की सत्ता विद्यमान रहती है। वे दैनिक सभी प्रकार के काम करते हैं किन्तु अन्तर में निष्काम भावना होने के कारण उन पर उनके कार्यों का भी *प्रभाव नहीं पड़ता, इसका कारण यही है कि वे वीतरागता और सर्वज्ञता* प्राप्त कर चुके हैं। उनको कोई कुछ भी कहे, उनके साथ कैसा ही व्यवहार करे, उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म का चाहे कोई खण्डन करे, मण्डन करे और उनके भक्त को चाहे कोई हत्या भी कर दे, वे सदा अनासक्त भाव में लीन रहते हैं। भगवान् महावीर के सामने ही सुनक्षत्र और सर्वानुभूति नाम के मुनि

गोशाले की तेजो लेश्या के शिकार बन गये थे किन्तु इस मार्मिक घटना से भी भगवान् तनिक भी विचलित नहीं हुए। इस वीतरागता और सर्वज्ञता की अनुपलब्धि की अवस्था में ही उन्नतिशील आत्मा को वापस संसार में अवतार लेना पड़ता है और यह कहना पड़ता है :

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
उपकाराय साधूनामपकाराय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थं च संभवामि युगे-युगे ।।

भगवद्गीता, ४, ७/८

अर्थात्—

जब-जब संसार में लोगों की धर्म के प्रति घृणा होती है और अधर्म अपना सिर ऊंचा उठाने लगता है, उस समय मैं अवतार के रूप में संसार में आता हूँ। आकर साधु या सज्जनात्माओं का उपकार करता हूँ और दुष्टों को दण्ड देता हूँ। धर्म की स्थापना मैं युग-युग में इसी प्रकार अवतरित होकर किया करता हूँ।

अवतार का अर्थ है 'अवतरण'। अवतरण—अर्थात् नीचे उतरना। जैन सिद्धान्त में अवतारवाद का कोई स्थान नहीं है। यहाँ तो 'उत्तार' अर्थात् ऊँचा चढ़ने का महत्त्व है। जब आत्मा का उत्तार—उत्थान हो जाता है तो फिर वह किसी भी परिस्थिति में नीचे नहीं आया करता या दूसरे शब्दों में उसको नीचे आने की आवश्यकता नहीं रह जाती। शाश्वतिक उत्थान व उन्नति के लिए ही ये सारी की सारी धार्मिक क्रियाएँ की जाती हैं।

जैन-भवन, डेह (नागौर) २ अगस्त, १९७९

वस्तु स्वरूप और अज्ञानवाद

शाश्वत सुखों की प्राप्ति का अधिकारी जीव है। जो अजीव है या जड़ है, उसको सुख-दुःख की अनुभूति नहीं हुआ करती। जीव चेतन है और अजीव जड़ है। चेतन के सामने सुख की परिस्थितियाँ आती हैं तो उसको सुख का अनुभव होता है और दुःख की परिस्थितियाँ आती हैं, तो उसे दुःख का अनुभव होता है। सामान्यरूप से जीव की सुख दुःखानुभूति परिस्थितियों पर अवलंबित नहीं है क्योंकि परिस्थितियाँ तो अजीव के सामने भी आती हैं किन्तु अजीव में चैतन्य के अभाव में जानने की एवं संवेदना करने की शक्ति नहीं है। जीव के पास चेतना शक्ति के कारण ज्ञान भी है, दर्शन भी है—इसलिए उसको सुख-दुःख की अनुभूति होती है। जीव में निरन्तर सुख-दुःख भोगने के कारण कभी-कभी यह भाव भी पैदा हो जाया करता है कि जो सुख वह भोगा करता है वह तो अस्थायी सुख है, स्थिर सुख तो उसे कभी मिला ही नहीं। जो कुछ वह सुख के रूप में भोग रहा है, उस सुख की कड़ी निरन्तर तो चालू रहती नहीं। कभी सुख मिलता है तो कभी वह पुनः पूर्णरूप से दुःखी हो जाता है। जो सुख उसे मिलता रहता है वह उसके ही उद्यम या प्रयत्न का परिणाम रहा है। यदि वह अधिकतम पुरुषार्थ या प्रयत्न करे तो क्या उसका सुख स्थिरता ग्रहण नहीं कर सकता ? सुख की स्थिरता से उसके दुःख का सदा के लिए अन्त भी हो सकता है। वह यह भी सोचने लगता है, "ऐसा भी सुना जाता है कि कुछ आत्माएँ ऐसी भी होती हैं जिन्हें भूत, वर्तमान और परोक्ष का सभी ज्ञान होता है और वे सर्वज्ञ कहलाती हैं। वे ज्ञान की ऐसी स्थिरता प्राप्त करने में समर्थ हो जाती हैं कि अज्ञानता फिर लौटकर उनके पास आती ही नहीं। पूर्णज्ञान-प्राप्ति के पूर्व, आखिर उन्होंने अज्ञान का अत्यन्ताभाव किया होगा, तभी तो पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो पाई।"

इस प्रसंग में यह बता देना परमावश्यक है कि नाश दो प्रकार का होता है—एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक। उदाहरण के लिए एक झाड़ है, उसके मिटाने के लिए यदि उसके पत्ते झाड़ दिये जायें तो वे पत्ते पुनः आ जाया करते

हैं। वह पुनः पूर्ववत् लहलहाने लगता है। यदि उसे नष्ट करने के लिए उसकी जड़ में कोई घातक पदार्थ डाल दिया जाये तो जड़ों को पोषण-तत्त्व न मिलने के कारण वह धीरे-धीरे स्वयं नष्ट हो जायेगा। पोषण का अभाव ही शोषण है और शोषण का परिणाम ही विनाश है। घातक पदार्थ के डालने से जब मूल ही विनष्ट हो जाता है तब बाहरी पत्तों की, फूलों की और फलों की संभावना ही नहीं रह पाती। इसी प्रकार कोई सर्वज्ञ बनने की इच्छा रखता है, उसे सर्वप्रथम अज्ञान को जड़-मूल से नष्ट करना होता है। अज्ञान का अस्तित्व यदि अल्प मात्रा में भी अवशेष रह गया तो वह एक दिन समय पाकर ज्ञान को नष्ट कर सकता है। वस्तु के स्वरूप को न जानना ही अज्ञान है और इस अज्ञान का परिणाम है वस्तु के प्रति राग का होना या द्वेष का होना। वस्तु के स्वरूप को जानने के पश्चात् राग-द्वेष की उत्पत्ति रुक जाती है। आप एक भी वस्तु का नाम नहीं बता सकते जिसके स्वरूप को जान लेने के बाद आपने उसके प्रति राग किया हो। आप राग, प्रेम या मोहब्बत किस पर करते हो और किस कारण से करते हो! उदाहरण के लिए कोई रूपवती स्त्री है, उसके सौन्दर्य के कारण आपका उस पर राग है। इसी तरह धन है जिससे आपकी जीवन की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं, उस पर आपको राग है। यह राग आपको क्यों आता है, इसका कारण आपमें वस्तु-स्वरूप की अज्ञानता है। आप यह भूल जाते हैं कि रूप सदा एक-सा रहने वाला तत्त्व नहीं है। ज्यों-ज्यों मनुष्य की आयु ढलती रहती है त्यों-त्यों रूप का ह्रास होता रहता है। बीमारी आने से या किसी भयानक दुर्घटना से भी रूप नष्ट हो जाता है। कितना ही इलाज करवा लो, कितनी ही प्लास्टिक सर्जरी करवा लो जो रूप एक बार नष्ट हो गया, वह पूर्व की स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता। तो हमारा कहने का यही अभिप्राय है कि रूप कोई स्थिर रहने वाली चीज़ नहीं है। तुम इस सत्य को या वस्तु-स्वरूप को समझते नहीं हो, इस कारण उससे राग करते हो। यही दशा धन की भी है, हम कितने पापों का अर्जन करते हैं, इसको प्राप्त करने के लिए; कितने कर्म बांधते हैं, इसके अर्जन के लिए; किन्तु यह भी किसके पास स्थिर रूप से रहा है? यह तो सभी लोग जानते हैं कि लक्ष्मी का स्वभाव चंचल है, वह एक स्थान पर टिक कर रहा नहीं करती। इस पर एक कवि की उक्ति है:

> या स्वसद्मनि पद्मेऽपि सन्ध्यावधि विजृम्भते।
> इन्दिरा मन्दिरेऽन्येषां कथं स्यास्यति निश्चला॥

अर्थात्—

वह लक्ष्मी जो अपने निवास स्थान कमल में भी सायंकाल तक ही स्थिर

रहती है, दूसरों के घरों में स्थिर होकर कैसे टिक सकती है?

इस प्रकार हमारा कहने का यही आशय है कि रूप, रंग, धन आदि वस्तुएँ चिरस्थायी नहीं हैं। आप उन पर राग इसलिए रखते हैं कि आप वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ हैं। वस्तु के प्रति राग-द्वेष का आना और शत्रु पर क्रोध का आना—सबमें वस्तुस्वरूप का अज्ञान ही कारण होता है। ऐसा भी कई बार होता है कि जिसके प्रति हमारा द्वेष है, जिसको हम अपना शत्रु समझते हैं, वह परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण हमारा मित्र बन जाए और वह मित्र भी ऐसा कि हम उसके बिना रह न सकें। इसी प्रकार जिसके प्रति हमारे मन में राग है वह भी किसी घटना के कारण हमारा शत्रु बन सकता है। ऐसी स्थिति में जिस राग और द्वेष में इतनी अस्थिरता है उसके कारण हम परेशान क्यों हों? ये सब बातें गहराई से समझने की हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखने में आती है कि परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ ही शत्रु मित्र बन जाते हैं और मित्र शत्रु बन जाते हैं। संसार की इस परिवर्तनशीलता को दृष्टि में रखते हुए मनुष्य को चाहिए कि वह सब प्राणियों के प्रति समता की भावना रखे। कबीर साहब ने इस भाव को व्यक्त करते हुए कहा है

> कबिरा खड़ा बजार में मांगे सबकी खैर।
> ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर॥

हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम अपने हाल में मस्त रहें। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी विचारधारा में, अपने आत्मचिन्तन में लीन रहना चाहिए। व्यर्थ में सांसारिक पदार्थों का सहारा नहीं ढूंढना चाहिए, क्योंकि वे सब अस्थायी हैं, अनित्य हैं। संसार का बड़ा से बड़ा व्यक्ति भी संसार की परिवर्तनशीलता को मिटाने का सामर्थ्य नहीं रखता।

जिस वस्तु के प्रति हमारा राग है उससे बेहतर वस्तु की प्राप्ति से भी हमारा राग उससे हट जाता है और कई बार जीवन के कटु अनुभव से भी जो वस्तु हमें कल अमृत के समान प्यारी लग रही थी वह विष के समान हेय लगने लगती है। शास्त्रकारों ने इसीलिए कहा है कि संसार के पदार्थ क्षणभंगुर हैं, उनके प्रति मानव को राग-द्वेष नहीं रखना चाहिए। अपने स्वभाव में मगन होकर रहना सबसे उत्तम है :

> "आत्म स्वभाव में रे, अवधू सदा मगन हो रहना।"

तो हम आपसे कह रहे थे कि सर्वज्ञ बनने की आकांक्षा रखने वाला व्यक्ति सर्वप्रथम अज्ञान का नाश करता है। जब तक अज्ञान है वस्तु-स्वरूप का, तब तक राग-द्वेष बने रहेंगे। राग-द्वेष का अभाव तो वस्तु-स्वरूप के ज्ञान से ही

हो सकता है। वस्तु-स्वभाव के ज्ञान से ही आत्मा सर्वज्ञता की सोपान पर आरूढ़ हो सकता है। जो एक बार वहाँ पहुँच गया, वह फिर वापस नहीं आता। बंधनों से मुक्त हुआ कोई भी जीव पुनः बन्धन में बंधना नहीं चाहेगा। बंधेगा भी क्यों, उसने संसार-वृक्ष के बीज का सर्वथा नाश जो कर दिया है :

"दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं न प्ररोहति भवांकुरः"

जब बीज को ही जला दिया गया तो फिर संसार में जन्म लेने के अंकुर कैसे प्रस्फुटित हो सकते हैं ? इस प्रकार सांसारिक बन्धन से मुक्ति प्रत्येक आत्मा प्राप्त नहीं कर सकता।

जिन लोगों की ऐसी मान्यता है कि भगवान् को भी पापी आत्माओं के उद्धार के लिए, दुष्टात्माओं को दण्डित करने के लिए संसार में आना पड़ता है, उनके अनुसार तो यही सिद्ध होता है कि इस प्रकार की मान्यता वालों का ईश्वर भी वास्तविक मुक्तावस्था प्राप्त नहीं कर सका है। संसार में आने का तो यही अर्थ है कि उनके भगवान् के बन्धन अभी तक कट नहीं पाये हैं। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति पतंग उड़ा रहा है, बड़ी लम्बी डोर है उसके हाथ में। वह डोर को कभी तो ढीली कर देता है और कभी खींचता है। ढील का अर्थ है पतंग को दूरी पर ले जाना, खींचने का अर्थ है पतंग को ऊँचाई पर ले जाना। कभी-कभी पतंग इतनी ऊँची चली जाती है कि उड़ाने वाले की दृष्टि से भी ओझल हो जाती है, परन्तु इतनी ऊँचाई पर पहुँचकर भी आखिर पतंग को नीचे आना पड़ता है। इसका कारण है कि पतंग बन्धन में है, बँधी हुई है—डोर से और डोर उड़ाने वाले के हाथ में है। इसी प्रकार कोई आत्मा कितना भी ऊँचा उठ जाये यदि वह किसी के बन्धन में बँधा हुआ है तो उसको नीचे आना ही पड़ता है। संसार में उसको जन्म लेना ही पड़ता है। जैनागमों का कथन है कि ऐसे आत्मा परमात्मा कहलाते हुए भी मुक्तावस्था से रहित हैं। जब परमात्मा कहलाने वाले आत्मा भी मुक्तावस्था को प्राप्त करने में सफल नहीं हो सके तो सामान्य आत्मा से मुक्तावस्था को प्राप्त करना कितना कठिन है, इसका अनुमान आप स्वयं लगा सकते हैं। अवतारवाद की मान्यता में सारा का सारा तन्त्र एक ही शक्ति, आत्मा या तथाकथित परमात्मा के हाथ में सौंप दिया जाता है, इसी कारण परिस्थितियों के बन्धन के कारण उसे पृथ्वी पर अवतरण की आवश्यकता रहती है। वह आवश्यकता भले ही पूरी हो जाए किन्तु उस परमशक्ति को मुक्तावस्था तक नहीं पहुँचने देती। जैन सिद्धान्त के अनुसार सारा तन्त्र किसी ऐसी आत्मा-विशेष या शक्ति-विशेष के हाथ में नहीं है। यहाँ

तो सब आत्मा 'स्वतन्त्र' हैं। सब अपना कल्याण भी स्वयं कर सकते हैं और स्वयं को पतन की ओर भी प्रवृत्त कर सकते हैं। इसीलिए जैनागम का विधान है :

> अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
> अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥
>
> उत्तराध्ययन, २०/३७

अर्थात्—

आत्मा ही सुख देने वाला भी है और दुःख देने वाला भी। सदाचार में प्रवृत्त आत्मा मित्र के समान है और दुराचार में प्रवृत्त होने पर वही शत्रु के समान बन जाता है।

इसी भाव का दूसरे आगम में भी उल्लेख है :

> पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं,
> किं बहिया मित्तमिच्छसि ।
>
> आचारांग, १/३/३.

अर्थात्—हे मानव ! तुम स्वयं ही अपने मित्र हो, बाहर क्यों किसी की खोज करते फिरते हो ?

इस प्रकार हमारे सिद्धान्त में आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है और कर्मों का फल उसे स्वयं भोगना पड़ता है, किसी दूसरी शक्ति की उसे कर्मों का फल भुगताने के लिए आवश्यकता नहीं है। आत्मा अज्ञानवश कर्मों को बाँधता भी है और ज्ञान के द्वारा अज्ञान का आवरण दूर करके कर्मों के बन्धन से मुक्त भी हो सकता है। उसे दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता है। फल भुगताने के लिए ईश्वर नाम की शक्ति की कल्पना वे लोग करते हैं जो पाप कर्म तो करते हैं किन्तु उनका फल भोगने के लिए तैयार नहीं। ऐसी स्थिति में शक्ति-प्रयोग से फल भुगताने के लिए ईश्वरीय शक्ति की कल्पना की जाती है। अन्य शक्ति द्वारा फल भुगताने की मान्यता को स्वीकार करने से बड़ी बाधा उपस्थित होती है। फल भुगताने वाला यदि किसी कारणवश नाराज हो जाये तो जीव के पुण्यकर्मों को भी पापकर्म में बदल कर जीव को दण्डित कर सकता है। वह अपने भक्तों का तो पक्षपात करेगा और जो उसके भक्त नहीं हैं उनके साथ अन्याय करेगा। ऐसी मान्यता से तो विश्व में वैषम्य पैदा हो जायेगा। इसलिए हमें वीतराग सर्वज्ञ के सिद्धान्त को स्वीकार करना होगा, जिसके अनुसार संसार के प्राणी कर्मबन्धन और कर्मविमुक्ति दोनों में स्वतन्त्र हैं। आत्मा कर्म स्वयं भोगता है। किसी भी कार्य की सम्पन्नता में

काल, स्वभाव, नियति पुरुषार्थ व कर्म—ये पांच कारण होते हैं। अकेला व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता। अनेकान्तवाद का सिद्धान्त भी इसी सत्य की पुष्टि करता है। ईश्वर के हाथ में सारा तन्त्र सौंपना एकान्तवादी दृष्टि-कोण है। परिणामस्वरूप यह कहना पड़ता है कि ऐसे लोग जिन्होंने वस्तु-स्वरूप को समझा नहीं है वे ही कर्म भुगताने की मान्यता में आस्था रखते हैं।

इसी प्रसंग से सम्बन्ध रखने वाली एक दूसरी विचारधारा भी है। कुछ लोगों का कथन है कि 'वस्तुस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करो चाहे न करो, जो होनहार है वह तो होकर ही रहती है।' इसका उत्तर यह है कि अपने-आप कुछ नहीं हुआ करता। जैसे कर्म हम करते हैं, उनके अनुसार ही सब होता है। जैसा बीज हम बोएंगे, वैसा ही उगेगा। बिना बोए कुछ भी उगने वाला नहीं है। चाहे हम कर्म जान-बूझकर करें, चाहे अनजाने में करें, कर्म का फल तो हमें भुगतना ही पड़ेगा, उससे छुटकारा नहीं है। आम लोगों की यही धारणा रहती है कि अनजाने में हुए कर्म का फल उन्हें न भोगना पड़े और अनजाने में उनसे जो पुण्यकर्म हो गया हो उसका शुभ फल उनको अवश्य प्राप्त हो जाए। ऐसा नहीं हुआ करता है। व्यय और आय दोनों लिखे जाते हैं। अनजाने में किए गये कर्म-फल को न भोगने की मान्यता से तो अज्ञान का महत्त्व बढ़ेगा और ज्ञान उपेक्षित हो जायेगा। इस दृष्टिकोण से तो अज्ञानी रहना लाभदायक हुआ क्योंकि उसे 'पापकर्म का फल नहीं भोगना पड़ा। तो फिर ज्ञानी बनना कौन चाहेगा? अन्य सिद्धान्तों के साथ-साथ संसार में अज्ञानवाद का सिद्धान्त भी चलता है। अज्ञानवादी अज्ञान का मण्डन करते हैं और अज्ञानी रहने की शिक्षा देते हैं। उनका कहना है कि अज्ञानी कितना भी पाप कर ले, क्षमा का पात्र होता है, ज्ञानी नहीं; ज्ञानी तो बन्धन में पड़ जाता है। वे कहते हैं :

> "चाकर चकवो चतुर नर नितप्रति रहत उदास।
> खर घू घू मूरख पशु सदा सुखी पृथ्वीराज ॥"

और भी :

> "पठितव्यं तदपि मर्तव्यं, न पठितव्यं
> तदपि मर्तव्यं दन्तकटाकट किं कर्त्तव्यम् ।"

अर्थात्—

पढ़ना है तो भी मरना अवश्यंभावी है और नहीं पढ़ेंगे तब भी मृत्यु से हमारी कोई रक्षा नहीं कर सकता, तब फिर व्यर्थ में ही दांताकीची करने से क्या लाभ? यह भी कहते हैं :

"भणिया माँगे भीख, अणभणिया थोड़ चढ़ ।
गुराँजी री आ ही सीख, भोले ही भणजो मती ॥"

इस प्रकार अज्ञानवादी लोग अनेक प्रकार के तर्क और युक्तियाँ प्रस्तुत करके अपने पक्ष का मण्डन किया करते हैं, किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि वे जो तर्क और युक्तियाँ देते हैं उनका आधार ज्ञान ही तो है। ज्ञान का सहारा लेकर भी ज्ञान का खण्डन करना, यह तो उनकी कोरी अज्ञानता का ही प्रतीक है। "जिस हँडिया में खाना, उसी में छेद करना" वाली कहावत उन पर पूरी तरह से घटित होती है। इसी खोखलेपन के कारण जो ज्ञानवान लोग हैं उनके पास तो जिज्ञासुओं की भीड़ लगी रहती है, और जो अज्ञानवादी हैं उनके पास कोई फटकता भी नहीं। जरा ध्यान देने की बात है, यदि अज्ञानी बालक आग में हाथ डालेगा तो क्या उसका हाथ जलेगा नहीं ? यदि अज्ञानी व्यक्ति विष का भक्षण करेगा तो क्या वह मरेगा नहीं ? यदि अज्ञानी को सर्प काट लेगा तो क्या उसको विष नहीं चढ़ेगा ? इसलिए ज्ञानवादियों का कथन है कि अज्ञानावस्था में किये गये पापों का फल तो जीव को निश्चित रूप से भोगना ही पड़ता है। ज्ञानी तो कर्म-फल से किसी सीमा तक त्राण भी पा सकता है। ज्ञानवान् व्यक्ति प्रथम तो सामान्य परिस्थिति में पाप कर्म में प्रवृत्त होगा ही नहीं और यदि किसी कठिन परिस्थिति में प्रवृत्त हो भी गया तो उसके मन पर पाप चिपट नहीं सकेगा। आत्मा के साथ उसकी एकरूपता नहीं हो सकेगी। उदाहरण के लिए आप सब हमारा व्याख्यान सुनने के लिए आते हैं किन्तु ऊपर के मन से आते हैं। ऐसी दशा में जो भी हमारे द्वारा उपदिष्ट धार्मिक क्रियाएँ आप करते हैं उनसे तथा हमसे आपकी जो एकरूपता होनी चाहिए वह क्या हो पाती है ? उत्तर निषेधात्मक है। ऊपरी मन से हम किसी से मिलते हैं, चिकनी-चुपड़ी बातें करते हैं, देर तक बैठे भी रहते हैं, हँसते भी हैं और प्रभावित करने का प्रयत्न भी करते हैं किन्तु इसका असर कुछ भी नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञानवान् व्यक्ति बिना रुचि के, बिना मन के यदि कोई पाप कर भी बैठता है तो उस पाप का उसकी आत्मा से कोई बन्धन नहीं हो पाता। वह अपने पाप के लिए थोड़ा सा पश्चात्ताप करके या थोड़ी-सी धार्मिक क्रिया करके उससे छुटकारा पा सकता है। उदाहरण के लिए किसी समझदार ज्ञानवान् व्यक्ति ने परिस्थितियों की चोट खाकर आत्महत्या के लिए विष-भक्षण कर लिया। विष भक्षण के पश्चात् वह विचार करता है, "मेरी मृत्यु से क्या होगा ? घर की परिस्थितियाँ बदलने के स्थान पर और विकट हो जायेंगी।" उसे पश्चात्ताप होता है और वह किसी डाक्टर के पास जाकर कहता है, "मैंने बड़ी भारी भूल की है। आत्महत्या के लिए विष खा गया हूँ। कृपया मेरी रक्षा कीजिये।" डाक्टर उसको कोई ऐसी औषधि दे

देता है जिससे वमन हो जाता है, विष बाहर आ जाता है और उसके प्राण बच जाते हैं। इस प्रकार ज्ञानी व्यक्ति पाप करके भी पापफल से मुक्त हो सकता है जबकि अज्ञानी व्यक्ति को किसी भी अवस्था में उसके पाप का फल भुगतना ही पड़ता है। अज्ञानी पाप के फल से कभी छुटकारा नहीं पा सकता, क्योंकि वह पाप के दुष्परिणाम से बचने के उपायों से सर्वथा अनभिज्ञ है। यही महान् अन्तर है ज्ञान और अज्ञान में। तो हमारा आपसे यही कहना है कि यदि कोई व्यक्ति मुक्ति के स्वरूप को बिना समझे ही धार्मिक क्रियाओं के द्वारा मुक्त होने का प्रयास करेगा तो उसका न तो कोई महत्त्व ही है और न ही उसका कोई फल ही मिलने वाला है। उत्कृष्ट से उत्कृष्ट एवं कठिन से कठिन सारी धार्मिक कियाएँ आत्मस्वरूप के एवं मोक्ष के यथार्थ ज्ञान के अभाव में सारहीन होती हैं।

जैन-भवन, डेह (नागौर)

३ अगस्त, १९७९

वस्तु, भावना और सिद्धि

यह सार्वभौम सत्य है कि शाश्वत सुख की प्राप्ति जीव सम्यग्दृष्टि से ही कर सकता है। सम्यक्त्व का वास्तविक अर्थ है 'सचाई'। इसके विरोधी शब्द 'मिथ्यात्व' का अर्थ होता है 'झूठाई'। 'सचाई' के लिए दूसरा शब्द 'वास्तविकता' भी है, वह इसलिए कि सचाई में ही वास्तविकता होती है। वस्तु के अन्दर जो भी तत्त्व हो उसे यथार्थ रूप में स्वीकार करना वास्तविकता है। जो तत्त्व वस्तु में निहित नहीं है उसे हठात् मानने पर बल देना अवास्तविकता है। शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों में इनको ही क्रमशः सम्यक्त्व और मिथ्यात्व कहा जाता है। लोक-व्यवहार में प्राय. लोगों को ऐसा कहते सुना गया है: "अरे, क्या तो रखा है वास्तविकता में और क्या रखा है अवास्तविकता में। प्रधानता तो भावना की होती है। जैसी जिसकी भावना होती है, उसको वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है।" नीतिशास्त्र में इसी भाव को इस प्रकार अभिव्यक्त की गई है:

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

उक्त पद्य में मनुष्य की भावना के फलवती होने पर बल दिया गया है जो विश्लेषण एवं तर्क की आधारशिला पर खरा नहीं उतरता। जो तत्त्व जिस वस्तु में विद्यमान नहीं है उस तत्त्व की भावना रखने से क्या उस तत्त्व की सत्ता उस वस्तु में आ सकती है? अग्नि का गुण या धर्म उष्णता है, उसमें शीतलता की भावना रखने से शीतत्व तो नहीं आ सकता। इसी प्रकार जल का धर्म शीतलता है, उसमें उष्णता की भावना रखने से उसका गुण उष्णत्व में तो परिणत नहीं हो सकता? उक्त उत्तरार्ध का पूर्वार्ध:

देवे तीर्थे द्विजे मन्त्रे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।

भी विचारणीय है।

देव अपने उस इष्ट को कहते हैं जिससे लाभ उठाने के लिए उसकी आराधना की जाती है। दूसरी कोटि में तीर्थ का उल्लेख है। तीर्थ का अर्थ बड़ा ही

गहन भी है और सारगर्भित भी। लोकभाषा में तीर्थ का दूसरा नाम घाट भी है। पानी में उतरने के लिए जलाशय के चारों ओर और नदी के दोनों ओर घाट बंधाये जाते हैं। पावड़िये भी होते हैं और आसपास सहारे के लिए लोहे की जंजीरें भी लगी होती हैं जिससे तैरने की कला से अनभिज्ञ व्यक्ति जल में डूबने से बच सकें। ऐसे घाट तीर्थ कहलाते हैं। तीर्थ इसलिए कि इनको तिरने का माध्यम माना जाता है। हरिद्वार, कुरुक्षेत्र और वाराणसी आदि अनेक स्थान तीर्थों के नाम से जाने जाते हैं।

"तीर्यंते यत्र अथवा तीर्यंते अनेन असौ तीर्थः।"

अर्थात्—

जो तिरने का या तैरने का स्थान हो, वह तीर्थ है। यहाँ एक बात और विशेष ध्यान देने योग्य है। तीर्थों के नाम से प्रसिद्ध जलाशयों और नदियों के सभी स्थानों में स्नान करके तिरना सम्भव नहीं होता। सर्वत्र एक स्थान-विशेष होता है जहाँ तिरने का विधान होता है, जैसे हरिद्वार में 'हर की पौड़ी'। इस धार्मिक विधान का दूसरा पहलू सामान्यज्ञान भी है। जल में अनेक प्रकार के घातक जानवर भी होते हैं। जहाँ लोग अधिक संख्या में स्नान करते हैं, वहाँ वे जीव-जन्तु प्राणभय से नहीं आया करते। घाट बंधे होने के कारण जल स्वच्छ बना रहता है, इसलिए स्नान करने वाले कीचड़ से भी बचे रहते हैं। यह है विवरण संसार के दृश्यमान तीर्थों का।

कुछ ऐसे भी तीर्थ हैं जहाँ पानी स्थिर रूप में टिका हुआ या प्रवाह रूप में बहता हुआ तो दिखाई नहीं देता किन्तु तीर्थ की सत्ता उनमें रहती है। दूसरे शब्दों में, यह संसार स्वयं सागर ही है। यहाँ पर आपके और हमारे बीच में भी पानी है। ऊपर पानी है, नीचे पानी है और आसपास भी पानी है। हम सब पानी में ही तो बैठे हुए हैं। यह पानी है जन्म-मरण का, संसाररूपी समुद्र का। बड़ा ही विशाल और गहरा है यह संसाररूपी समुद्र। इस समुद्र के अन्दर भी चार घाट बने हुए हैं। संसार रूपी समुद्र को यदि कोई तैरकर पार करना चाहता हो, इससे अपना अपना पिण्ड छुड़ाना चाहता हो या इस बन्धन से मुक्त होना चाहता हो तो उसके लिए जैनागमों में चार तीर्थों का विधान है। वे चार तीर्थ हैं: साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। साधु या श्रमण धर्म को जो अंगीकार कर लेता है, वह बिना किसी रुकावट के संसाररूपी समुद्र को तैर कर पार कर सकता है। यदि कोई यह सोचे कि "मुझमें तो तैरने की सामर्थ्य है, मैं साधु धर्म को अपनाये बिना भी घर पर बैठकर संसार के सारे के सारे काम सम्पन्न करता हुआ भी संसार-समुद्र को तैरकर पार कर जाऊँगा।" तो मात्र उसकी यह भ्रान्ति है और अज्ञानता है। निःसन्देह साधु-

मार्ग को अपनाना सरल काम नहीं है किन्तु भवसागर को पार करने के लिए उसका आश्रय अनिवार्य है। साधु धर्म में उन सभी बातों का त्याग करना पड़ता है जो साधक के मार्ग में रुकावट डालने वाली हैं या साधना-पथ की बाधक हैं। उनके त्याग से मन कहीं भी डगमगाता नहीं किन्तु स्थिर हो जाता है आत्म-विकास की पृष्ठभूमि पर। घर में सांसारिक जाल में उलझने के कारण मन की स्थिरता कदापि सम्भव नहीं होती। साधक को तैरने की जो सुविधा अपेक्षित है वह घर में प्राप्त नहीं होती। साधु धर्म तीर्थों के बंधे हुए घाटों के समान है जहाँ तैरने की पूरी सुविधा होती है, जहाँ जलचर जन्तुओं का किसी प्रकार का खतरा नहीं रहता किन्तु गृहस्थ जीवन तो घाट-विहीन होता है जहाँ संसार के भयंकर घातक जलचर जन्तुओं के समान सदा खतरनाक बने रहते हैं। इसलिए संसार-समुद्र को पार करने की यदि सच्ची लगन है तो साधु-धर्म को अंगीकार करना ही पड़ेगा।

जैसे साधु धर्म है वैसे ही स्त्रियों के लिए साध्वी धर्म है। यह दूसरा तीर्थ है। तीसरी कोटि में श्रावक भी एक तीर्थ है। देशविरति धर्म को धारण करने वाले श्रावक भी संसार समुद्र को पार कर सकते हैं। श्रावक के समान ही चौथा तीर्थ श्राविका है। इन चारों तीर्थों में आकर आत्मा शास्त्रविहित विधि-विधानों के निरन्तर अनुष्ठान से भवसागर को तैर कर पार हो जाता है या दूसरे शब्दों में बन्धनमुक्त हो जाता है।

तीसरा शब्द है 'द्विज'। द्विज के अनेक अर्थ होते हैं। 'द्वि' का अर्थ है 'दो' और 'ज' का अर्थ है 'जन्म'। जिसका दो बार जन्म होता है वह द्विज कहलाता है। पक्षी का पहला जन्म अण्डे के रूप में होता है और दूसरा बच्चे के रूप में। दांत भी द्विज कहलाते हैं क्योंकि इनका जन्म भी दो बार होता है। पहले दांत दूध के होते हैं और दूसरे अन्न के।

उक्त गाथा में जो द्विज शब्द आया है वह मानव जाति के वर्ग-विशेष के लिए है। वह मानव जो एक बार तो माता के गर्भ से जन्म लेता है और दूसरा जन्म उसका किसी धार्मिक संस्कार-विशेष के समय होता है वह भी द्विज कहलाता है। साधु भी द्विज कहलाता है क्योंकि एक बार तो उसका जन्म घर में होता है और दूसरा गुरु के चरणों में धार्मिक संस्कार द्वारा। श्रावक भी द्विज है, एक बार तो उसका शारीरिक जन्म हुआ और दूसरा देशविरति धर्म को धारण करने के पश्चात्। संक्षेप में, पहला जन्म, जन्म से और दूसरा संस्कार से होता है। संस्कार का अभिप्राय है कि त्याग, व्रत, प्रत्याख्यान, मर्यादा आदि कुछ भी धार्मिक धारणा को धारण करने के पश्चात् जो जन्म होता है उसे दूसरा जन्म ही मानना चाहिए।

द्विजों में ब्राह्मण विशेष रूप से प्रसिद्ध है क्योंकि एक बार तो उसका जन्म

करो और फल की आशा अधिक रखो तो कैसे सम्भव हो सकेगा। इसी प्रकार का एक और दोहा है कबीर का।

"चिट्ठी लायो चून की"

कोई व्यक्ति किसी मोदी की दुकान पर गया। मोदी किसी दूसरे व्यक्ति का सामान तोल रहा था। घी, खाण्ड, मसाला आदि अनेक वस्तुएं वह अन्य ग्राहकों के लिए तोल रहा था। चून की चिट्ठी वाला व्यक्ति प्रतीक्षा करता रहा। जब मोदी औरों का सामान तोल चुका तो उसने भी अपनी चिट्ठी मोदी के हाथ में दे दी। मोदी ने चिट्ठी पढ़ते ही झट आटा तोल कर दे दिया। अपने लिए केवल मात्र आटा देखकर चिट्ठी वाला बोला, "तुमने और ग्राहकों को तो घी, खांड आदि अनेक प्रकार की सामग्री दी, मुझे केवल आटा ही क्यों?" इसके उत्तर में मोदी ने कहा :

"चिट्ठी लायो चून की, मांगे घी ने दाल।
दास कबीरा यों कहे, थारी चिट्ठी सामो माल॥"

कहने का सारांश यह है कि सामने की वस्तु समस्त सिद्धियों को प्रदान करने की सामर्थ्य रखते हुए भी साधक या आराधक को उतना ही देती है जितना उसकी श्रद्धा या भावना का परिमाण होता है। उक्त श्लोक का यही वास्तविक अभिप्राय है, यह नहीं कि प्रस्तुत वस्तु में अपेक्षित गुण के अभाव में भी हमारी भावना के कारण वह गुण उत्पन्न हो जाये जिसका उसमें उद्भव ही सम्भव नहीं हो। यदि हमको हमारी भावना के अनुसार ही सिद्धि-प्राप्ति सम्भव हो और प्रस्तुत वस्तु अपने विशिष्ट गुण से हीन हो तब तो वस्तु-वस्तु में न तो कोई अन्तर ही रह जायेगा और न ही वस्तु के अपने निजी गुणों का ही कोई मूल्य रह जायेगा। इसी कारण ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि सिद्धि केवल अपनी भावना के अनुसार मिलती है, यह कथन मिथ्यात्वी लोगों की कल्पना मात्र है। वास्तव में तो उक्त श्लोक का यही अर्थ है कि निर्दिष्ट वस्तुएँ सब प्रकार की सिद्धियों का स्रोत होते हुए भी साधक को उतना ही प्राप्त होगा या उतनी ही सिद्धि प्राप्त होगी जितनी उसकी भावना का परिमाण होगा। वास्तव में सम्यग्दृष्टि व्यक्ति ही वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जानता है और जिस वस्तु के साथ जैसा आचरण करना चाहिए वैसा ही वह करता है, परिणामस्वरूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता उसके चरण चूमती है।

जैन-भवन, डेह (नागौर)

४ अगस्त, १९७९

●●

क्या मिथ्यात्व भी गुण का स्थान है ?

जैसाकि प्रकरण चलता आ रहा है सम्यक्त्व से ही जीव को शाश्वत सुखों की प्राप्ति हुआ करती है। सम्यक्त्व का अर्थ सचाई है और जहाँ सचाई है, वहाँ सुख है। जहाँ सचाई का अभाव है वहाँ सुख का भी अभाव है। इस के व्याख्यान में प्रसंग चल रहा था .

"यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।"

जैसी जिसकी भावना हो, उसको सिद्धि भी वैसी ही मिला करती है। सामान्य व्यक्ति इसका यही अर्थ निकालते हैं कि हमारी भावना में ही कोई ऐसी शक्ति है जो सिद्धि को जनती है, वस्तु का स्वरूप तो गौण ही है। निम्नलिखित लोकोक्ति भी इसी भावना पर घटित होती है:

"जिसका अवगुण उसके माँहीं,
बाना पूज नफा लो भाई।"

अर्थात्—
"हमारा कर्तव्य तो बाना-वेश की पूजा करना है और उसी से लाभ उठाना है। गुण-अवगुण का उत्तरदायित्व तो उस पर है जो बाना धारण करता है।" इस मान्यता के अनुसार वस्तु गौण हो जाती है और भावना मुख्य। इसमें सिद्धि या सफलता केवल शुद्ध भावना पर आधारित है, वस्तु उपेक्षणीय है। ऐसी धारणा को हम भ्रान्त धारणा ही कहेंगे। इसका कारण है: जिस व्यक्ति के प्रति हम ऊँची भावना रखते हैं और सब प्रकार के गुणों का उसे अधिष्ठान मानते हैं, यदि वास्तव में वह हमारे द्वारा परिकल्पित एवं अपेक्षित गुणों से हीन हो, तो हम पूछते हैं कि हमारी भावना का क्या महत्त्व होगा और क्या मूल्य होगा ? क्या हमारी शुद्ध भावना की शक्ति से उस गुण-हीन व्यक्ति में गुणों का प्रवेश हो जायेगा ? इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक है। वास्तविकता तो यह है कि हमारे सामने जिस पदार्थ का जैसा स्वरूप है उसको जानने का और समझने का प्रयत्न किया जाये। तात्त्विक

यदि हम वस्तु का वास्तविक स्वरूप बिना समझे ही अपना सम्बन्ध उससे जोड़ लेंगे तो फिर ज्ञान-ध्यान का कोई महत्त्व ही नहीं रह जायेगा।

अपने शास्त्रों में सम्यक्त्व के ठीक विपरीत व्यापकरूप से एक और शब्द आता है : 'मिथ्यात्व'। प्रतिक्रमण सूत्र में और पच्चीस बोल के थोकड़े में भी इसका उल्लेख है। पच्चीस बोल के अठारह पाप-स्थानकों के नामों में अन्तिम नाम है—मिथ्यादर्शनशल्य। अठारहवें पाप के रूप में इसकी परिगणना होती है। इसी थोकड़े में अन्यत्र भी मिथ्यात्व का उल्लेख है। कुल मिलाकर तीन बार इसका उल्लेख किया गया है। तेरहवें बोल में तो इसका विस्तृत विवरण है, इसी में मिथ्यात्व के दस भेदों का वर्णन है। ग्यारहवें बोल में चौदह गुणस्थान हैं जिनमें पहला गुणस्थान मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व को भी गुण का स्थान बताना यह बात कुछ आश्चर्य में डालने वाली अवश्य है किन्तु है सत्याधारित। क्या मिथ्यात्व भी गुण है? इस प्रश्न के साथ एक दूसरा प्रश्न खड़ा होता है कि क्या गुण सभी अच्छे ही होते हैं? इसका उत्तर यही है कि गुण सभी अच्छे नहीं होते। गुण दो प्रकार के होते हैं : एक तो होते हैं कामगुण जो अच्छे नहीं माने जाते। कामगुणों के पाँच भेद होते हैं : शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श। काम का अर्थ यहाँ 'धर्मार्थकाममोक्ष' में आने वाला काम है जिसका अर्थ वासना है। इसका सीधा सम्बन्ध संभोग से है। शब्दादि पाँच कामगुण माने जाते हैं। व्याकरण की दृष्टि से गुण का अर्थ होता है बन्धन। इन पाँच कामगुणों में बन्धा हुआ आत्मा नरकगामी होता है। बांधने वाली रस्सी को भी तो गुण कहते हैं, वह भी बांधने के ही काम आती है। ये कामगुण जीव को बांधकर दुःख और दुर्गति के गर्त में पटक देते हैं। दूसरा गुण है निजी गुण। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—ये आत्मा के निजी गुण कहलाते हैं। आत्मा को बांधते तो ये भी हैं किन्तु इनसे बँधा हुआ जीव उत्तरोत्तर मोक्ष की ओर अग्रसर होता रहता है। बन्धन होते हुए भी ये उत्कर्षोन्मुखी हैं। इस-लिए ग्राह्य हैं और आत्मविकास में सहायक हैं।

चौदह प्रकार के गुणस्थानों में दोनों ही प्रकार के गुणों का समावेश है। पहले ही मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व-सम्बन्धी काम गुणों (शब्दादि) की चर्चा प्रस्तुत की गई और तत्पश्चात् जो अन्य गुणस्थान हैं जैसे सम्यक्त्व का, देशविरति का, प्रमत्त संयत का, अप्रमत्त संयत का आदि-आदि उनमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र-सम्बन्धी गुणों का विवरण भी आपको समझा दिया गया। हमारा आत्मा जब पहले गुणस्थान में रहता है, तो संसार में परिभ्रमण कराना उसका काम रहता है या यों कहो उसका वह गुण होता है। मिथ्यात्व वैसे तो महा भयंकर परिणामवाला होता है किन्तु शास्त्रकारों ने इसकी गणना जो गुणों में की है वह रहस्यात्मक है।

ये चौदह ही गुणस्थान आत्मा की अवस्थाएँ हैं किन्तु क्षेत्र की अपेक्षा से आत्मा की अवस्था अनन्त है। क्षेत्र की अपेक्षा से तो शुद्ध आत्मा का निवास चौदह राजू लोक के सबसे ऊपर-चोटी लोक के ऊपर है ऊपर, या यों समझिये कि ललाट के ऊपर है, वो सिद्धशिला और ऊपर जो बात है वहाँ पर सिद्धात्माएँ विराजती हैं। इस प्रकार मुक्तावस्था का स्थान तो बहुत ऊपर है। हमारा अभिप्राय यहाँ क्षेत्र की अपेक्षा से है। हम लोग अभी चौदह राजू लोक के बीच में रहते हैं। सात राजू से कुछ अधिक भाग हमारे नीचे है एवं सात राजू से कुछ कम भाग हमारे ऊपर है। हमारा यह लोक मनुष्यलोक कहलाता है। इस लोक का दो लोकों के मध्य में स्थान है ठीक वैसे ही जैसे शरीर के मध्य में नाभि का। हमारे शरीर में और जीवन में नाभि का स्थान बड़े महत्त्व का है। नाभि शरीर का सेंटर है। यहीं से सारी नाड़ियाँ कुछ ऊपर की ओर और कुछ नीचे की ओर जाती हैं। यदि यह कहें कि हमारा सारा जीवन-तन्त्र नाभि से सचालित है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। नाभि महत्त्वपूर्ण स्थान है। चौदह राजू लोक के अन्दर मनुष्यलोक भी अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। मनुष्य लोक के ऊपर का लोक और नीचे का लोक मनुष्यलोक के समक्ष कुछ महत्त्व नहीं रखते। इसी मनुष्यलोक के निवासी पुण्यकर्मों के परिणामस्वरूप देवलोक में उत्पन्न होते हैं। देवता बनते हैं, देवांगनाएं बनती हैं। देवलोक में जो भी जाहोजलाली है वह सब मनुष्यलोक का ही प्रभाव है। देवलोक के यद्यपि ऊपर मोक्ष है किन्तु उसका नाम हमने इसलिए नहीं लिया क्योंकि वहाँ किसी प्रकार की जाहोजलाली दृष्टिगोचर नहीं होती। हमारे-तुम्हारे जैसा कोई व्यक्ति यदि सिद्धशिला पर चला जाय तो वहाँ वह कुछ भी तो नहीं देख पायेगा, वह तो सर्वत्र शून्य और शून्य का ही अनुभव करेगा। यद्यपि वहाँ अनंत सिद्धात्मा विराजमान हैं किन्तु मनुष्य के चर्म चक्षु उनको नहीं देख सकते, यह इसलिए कि आत्मा द्रष्टव्य पदार्थ की स्थिति में नहीं है। आप लोग जो सिद्धों के विषय में 'जोत में जोत समाने' की बात किया करते हैं, उस पर भी मैं प्रकाश डालूँगा। सिद्धात्मा हमारे चक्षुओं के अगोचर क्यों हैं, इसका भी एक विशेष कारण है। हम जो ससार के पदार्थों को देखते हैं तो उस देखने का माध्यम हमारी आँखें हैं। आँखें पौद्गलिक हैं और ससार के जिन पदार्थों को वे देखती हैं वे सभी पौद्गलिक हैं। पुद्गलों के अन्दर वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होते हैं। ये वर्णादि सभी इन्द्रियों के विषय हैं। वर्ण को आँखें ग्रहण करती हैं, गन्ध को नाक ग्रहण करता है, रस को जिह्वा एवं स्पर्श को त्वचा ग्रहण करती है। आँखें तो वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श वाली चीजों को ही देखने की सामर्थ्य रखती हैं किन्तु जहाँ इन सभी का अभाव है वहाँ ये क्या देखेंगी ? सिद्धस्थान पर तो द्रष्टव्य सभी तत्वों

का अभाव है, वहां तो केवल अरूपी शुद्धात्मा हैं जो आंखों का विषय नहीं बन सकते।

सिद्धों के लिए जो 'जोत में जोत समाने' की उक्ति चली हुई है, अब उस पर संक्षिप्त प्रकाश डालेंगे। यदि कोई व्यक्ति यह प्रश्न करे कि जब सिद्ध-शिला पर अनन्तानन्त आत्मा विराजमान हैं तो वहां किसी नये मुक्तात्मा का प्रवेश कैसे संभव होगा ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए ही कहा गया है, 'ज्योति में ज्योति के समान विराजमान'। एक ज्योति में दूसरी ज्योति मिल जाती है, एक दीपक के प्रकाश में दूसरे दीपक का प्रकाश लीन हो जाता है। एक का ही क्यों यदि अनेक दीपक भी एक कमरे में रख दिये जायें तो सभी का प्रकाश समष्टि रूप में एकाकार हो जाता है। इसी को ज्योति में ज्योति समाना कहा गया है। एक आत्मा में दूसरे आत्मा के समाने की अपेक्षा से ही सिद्धों के लिए यह दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है। देखने की अपेक्षा से इस दृष्टान्त को घटाना उचित नहीं है क्योंकि ज्योति को तो हम देख सकते हैं।

इस प्रकार मोक्ष का नाम हमने इसलिए नहीं लिया क्योंकि वहां रवन्नक, जाहोजलाली कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होती। जो कुछ देखने का, सुनने का और मस्ती का मज़ा है वह तो सारा देवलोक में है। परन्तु यह बात ध्यान देने की है कि वहां की रंगरलियां सब मर्त्यलोक पर आश्रित हैं, यहां मनुष्य-लोक के आत्मा पुण्यकर्म करके वहां पहुँचेंगे तभी वहां आनन्द और विलास के उद्‌गार व्यक्त होंगे। संक्षेप में, देवलोक की चहल-पहल मनुष्यलोक पर आश्रित है।

पाप करने वाले मनुष्य मरकर नरकलोक में जाते हैं। यहां पर पापात्माओं की जो भीड़-भाड़ लगी रहती है वह भी मनुष्यलोक का ही प्रताप है। इस प्रकार ऊपर और नीचे के दोनों लोक मनुष्यलोक से प्रभावित हैं।

यह मनुष्यलोक चौदह राजू लोक के बीच में आने के कारण बड़े महत्त्व का है। चांद, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि सब यहीं हैं, देवलोक में नहीं हैं, नरक-लोक में भी नहीं हैं। पैंतालीस लाख योजन का जो यह लम्बा-चौड़ा एरिया है—अढ़ाई द्वीप का। उसी में है सत्ता चांद, सूर्य की। ये चांद-सूर्यादि गति-शील हैं। इस प्रकार का यह मध्यलोक तिरछा होकर भी बड़ा लम्बा-चौड़ा है। एक राजू का विस्तार है इसका। मनुष्य क्षेत्र के बाहर भी चांद, सूर्य, नक्षत्र और तारे हैं तो सही किन्तु वे स्थिर हैं, गतिशील नहीं हैं। गतिशील चांद-सूर्यादि तो केवल पैंतालीस लाख योजन के एरिया में ही है। इन ग्रहों की गतिशीलता के आधार पर ही मनुष्यलोक का सारा टाइमटेबल चलता है। दिन, रात, महीना, वर्ष, युग, कल्प, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी आदि जितना भी समय पूरा होता है, उस सब के आधारभूत ये चर ग्रह ही हैं। देवलोक

तक का टाइम-टेबल मनुष्य क्षेत्र के अनुसार चलता है। देवताओं की स्थितियाँ, नारकों की स्थितियाँ सब मनुष्यलोक के समय के आधार पर मापी जाती हैं। तभी तो मैंने कहा था आपसे कि ऊपर के और नीचे के दोनों लोकों में मनुष्यलोक अधिक महत्त्व रखता है।

तो हम आपसे कह रहे थे कि क्षेत्र की दृष्टि से हम दो लोकों के बीच में स्थित हैं। हमने नीचे के सात राजू में कुछ अधिक भाग पार कर दिया है, बीच में स्थित हैं हम। परन्तु गुणस्थान तो आत्मा की स्थितियाँ हैं। क्षेत्रिक अपेक्षा से तो जो स्थिति है वह शरीर की स्थिति है। शरीर बीच में है। आत्मा के विषय में यदि कोई जानना चाहे कि आत्मा कहाँ अवस्थित है ? तो उसके लिए चौदह गुणस्थान हैं।

निश्चयरूप से तो केवल ज्ञानी ही बता सकते हैं कि आपकी और हमारी आत्माएँ किन गुणस्थानों में स्थित हैं। व्यवहार नय से हमारा गुणस्थान छठा है और आपका गुणस्थान पाँचवाँ है। अधिक किसी ने जोर लगा दिया तो कुछ समय के लिए सातवाँ गुणस्थान आ जाता है। भावना में थोड़ा शैथिल्य आते ही वही आत्मा पुनः छठे गुणस्थान में आ जाता है। तीर्थंकरों की स्थिति भी यही है। दीक्षा लेते समय तो उनका सातवाँ गुणस्थान होता है और दीक्षा के पश्चात् छठा गुणस्थान रहता है। किसी के भी मन में यह शंका होनी स्वाभाविक है कि तीर्थंकर बनने वाले आत्मा सातवें से छठे में नीचे कैसे उतर आए ? इस प्रश्न का समाधान मनोवैज्ञानिक है। जब आपको किसी वस्तु को प्राप्त करने की अधिक लालसा रहती है, उत्कंठा रहती है तो उसकी प्राप्ति के लिए आप हर सम्भव प्रयत्न करते हो। प्रयत्नों के परिणामस्वरूप जब आपको अपनी अभिलषित वस्तु मिल जाती है तब आपकी पूर्व की अभिलाषा की उत्कटता समाप्त हो जाती है। इसी भाव को अंग्रेजी में इस प्रकार व्यक्त किया गया है :

"Achievement is the end of pleasure".

अर्थात्– अभिलषित वस्तु की प्राप्ति उत्कंठा के आनन्द को समाप्त करने वाली होती है।

वस्तु के अभाव के समय तो प्राप्ति के लिए प्रयत्न रहता है, वस्तु के सद्भाव में उत्कंठाजन्य प्रयत्न तो समाप्त हो जाता है किन्तु प्राप्त वस्तु को सुरक्षित रखने का भाव मन में पैदा हो जाता है। सुरक्षित रखने का भाव अलग प्रकार का होता है और वस्तु प्राप्ति की उत्कंठा का भाव अलग तरह का होता है। दोनों भावों में दिन-रात का अन्तर होता है। सातवाँ गुणस्थान आत्मा में उसी समय रहता है जब यह भावना होती है कि संसार से शीघ्रातिशीघ्र छुटकारा पाकर आत्मकल्याण किस प्रकार किया

जाए, मोक्षोन्मुख करने वाले व्रतों को कितनी जल्दी जीवन में उतारा जाये। दीक्षित होने के पश्चात् वही व्यक्ति छठे गुणस्थान का धनी बन जाता है। फिर तो वह सदा इसी ध्यान में रत रहता है कि उसको दीक्षा में किसी भी प्रकार की क्षति या हानि न आने पाये। वह अंगीकृत दीक्षा के संरक्षण में प्रयत्नशील रहता है।

हम आपसे बता रहे थे कि हमारी आत्मा की वास्तविक स्थिति तो निश्चय नय से सर्वज्ञ भगवान् ही बता सकते हैं कि हमारा पहला गुणस्थान भी छूटा है या नहीं छूटा है। हम सातवें गुणस्थान का व्यवहार लेकर बैठे हैं, छठे गुणस्थान का व्यवहार लेकर बैठे हैं किन्तु पहले गुणस्थान का छूट जाना भी कोई सामान्य बात नहीं है।

प्रथम गुणस्थान को भी शास्त्रकारों ने गुण का स्थान बताया है। गुणस्थान क्या होता है, सर्वप्रथम मैं आपको इसकी मनोवैज्ञानिक रूपरेखा बताऊँगा। कल्पना करो कि एक-एक माईल के फासले पर एक हद समाप्त होती है। एक माईल जब पार कर लेंगे, तब पहले गुणस्थान की सीमा समाप्त हो जायेगी। उसके बाद फिर चलेंगे तो दूसरे माईल पर दूसरे गुणस्थान की हद समाप्त हो जायेगी। पहले माईल की जहाँ से शुरुआत हुई थी, वहाँ से मार्ग तय करता हुआ आत्मा पहले माईल तक की सीमा तक पहुँच गया। जब उसने पहले माईल से यात्रा आरम्भ की थी उस समय जो उसमें अशिष्टता, असभ्यता, विकृति या मालिन्य थे वे उत्तरोत्तर यात्रा में शिथिल पड़ते गये, धूमिल होते गये या मिटते गये। आरम्भ में जो उनकी सत्ता थी वह इति में नहीं दिखाई देती। जब वह चला था तो उसकी स्थिति निकृष्टतम थी, गाढ़ अज्ञानान्धकार से वह आवृत था। जैसे-जैसे वह कदम बढ़ाता गया उसकी चेतना उत्तरोत्तर जागृत होती गई, अज्ञान का तिमिर तिरोहित होता गया और प्रकाश की किरणों की अनुभूति होने लगी। इस प्रकार यद्यपि पहले माईल के आरम्भ से लेकर अंत तक मिथ्यात्व ही है तथापि आरम्भिक स्थिति जितनी हीन, मलिन व आवृत थी, उतनी अंत तक की स्थिति हीन, मलिन व आवृत नहीं रही। प्रत्येक कदम पर कुछ न कुछ हीनता व मलिनता अवश्यमेव मिटी एवं फलस्वरूप आत्मिक गुण थोड़े से थोड़े अंशों में प्रकट हुआ। इसीलिए शास्त्रकारों ने मिथ्यात्व को भी गुणस्थान के रूप में बताया है। आगे चलकर जीव जैसे-जैसे कदम बढ़ाता गया उसकी चेतना उत्तरोत्तर जागृत होती गई, अज्ञान का तिमिर तिरोहित होता गया और प्रकाश की किरणों की अनुभूति होने लगी। इस प्रकार जैसे सीमाओं को पार करता जाता है, वैसे-वैसे उसके गुणस्थान भी बढ़ते जाते हैं।

“मिथ्यात्व की आरंभिक अवस्था तो पूर्णरूपेण आवृत एवं हीनातिहीन थी।

उसको भी तो शास्त्रकारों ने गुणस्थान ही माना है। हीनातिहीन पूर्व की अवस्था को शास्त्रकारों ने गुणस्थान कैसे मान लिया ?" ऐसी कोई आलोचक शंका कर सकता है। इसका समाधान यही है कि पूर्व अवस्था में जब आत्मा पूर्ण अन्धकार में था उस समय उसने जो घोर से घोर कर्म बाँधा, या महामोहनीय कर्म बाँधा, सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम की स्थिति वाला कर्म बाँधा, उस कर्म को भोगते हुए उसने बहुत-सा समय वहाँ बिताया। उसके बद्धकर्म वहाँ पर हल्के हो गए। ऐसी स्थिति में जब वह चला तो बोझिल होकर नहीं चलना पड़ा, हल्का होकर चला। पहले जो उसने महान् कर्म बाँध रखे थे उनको उसी अवस्था में भोग लिया, कर्मों के कुछ अंशों से तो उसने छुटकारा पाया ही, इसलिए पूर्वावस्था में भी गुणस्थान सार्थक है। इसके अतिरिक्त उस निम्नतम कोटि के *गुणस्थान में रहा हुआ आत्मा मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति को नहीं* बाँधता। वहाँ पर तो उसको भोगने ही भोगने का काम रहता है। जब आत्मा वहाँ से चलता है, आधा या पौन रास्ता तय कर लेता है, तभी उसको कुछ न कुछ बोध होता है। व्यक्त मिथ्यात्व ही उसको आधे से अधिक चलने के पश्चात् प्राप्त होता है। इसके पूर्व जो मिथ्यात्व था, वह तो अव्यक्त मिथ्यात्व था। अव्यक्त और व्यक्त मिथ्यात्व का भेद पच्चीस बोल में नहीं बताया गया है। वहाँ तो केवल 'पहला मिथ्यात्व गुणस्थान' बस इतना निर्देश है। मिथ्यात्व के अन्दर ही जैसा कि मैंने पहले भी आपको संकेत किया है, मिथ्यात्व की आदि अवस्था से लेकर मिथ्यात्व की अन्तिम अवस्था के बीच में ही न जाने कितनी अवस्थाएँ हैं। आपको समझाने के लिए दृष्टान्त तो *माईलों* का दिया है किन्तु वास्तव में योजनों के योजन उस स्थिति में पहुँचने के लिए *लग जाते हैं।*

सारांश यह कि मिथ्यात्व के अन्दर भी अनेक अवस्थाएँ हैं। अव्यक्त मिथ्यात्व के अन्दर तो केवल भोग ही भोग होता है। फिर व्यक्त मिथ्यात्व आता है। दोनों में अन्तर यह है कि व्यक्त मिथ्यात्व में तो सुगुरु, सुदेव और सुधर्म के प्रति द्वेष होता है तथा कुगुरु, कुदेव और कुधर्म के प्रति राग भाव रहता है। लेकिन अव्यक्त मिथ्यात्व में ऐसा कुछ नहीं होता। अव्यक्त मिथ्यात्व में तो कुछ मालूम ही नहीं पड़ता। वह तो घोरातिघोर अन्धकार की स्थिति होती है। *देव, गुरु और धर्म के विषय का तो उसे तनिक भी ज्ञान नहीं होता।* वहाँ असंज्ञी की-सी हालत होती है। मन का वहाँ अभाव होता है और वेदना यत्किंचित वहाँ मन्द होती है। बुरे को अच्छा और अच्छे को बुरा समझना— यह तो मिथ्यात्व का व्यक्त स्वरूप है। बहुत-से आचार्य तो इस व्यक्त मिथ्यात्व को ही 'मिथ्यात्व गुणस्थान' मानते हैं। अव्यक्त मिथ्यात्व को गुण का स्थान मानते ही नहीं। उनकी इसमें यही दलील है कि व्यक्त मिथ्यात्व के अन्दर

कुगुरु, कुदेव और कुधर्म के प्रति उसकी श्रद्धा जागृत हुई तो एक श्रद्धा का गुण उसमें प्रकट हुआ। यह गुण ही आगे चलकर सम्यक्त्व में परिणमित होने की संभावना रखता है। आज जो कुगुरु, कुदेव और कुधर्म के प्रति श्रद्धान्वित है कल वही श्रद्धा में परिवर्तन आने से सुगुरु, सुदेव और सुधर्म के प्रति आकर्षित हो सकता है। इसीलिए व्यक्त मिथ्यात्व में एक गुण के अस्तित्व के कारण वह भी गुणस्थान है। अव्यक्त मिथ्यात्व में श्रद्धा रूपी गुण का सर्वथा अभाव होने के कारण कुछ आचार्य इसको गुणस्थान के रूप में स्वीकार नहीं करते।

इस प्रकार मिथ्यात्व और मिथ्यात्व में भी बहुत-सा अन्तर होता है। आरम्भ के मिथ्यात्व की अवस्था कुछ और प्रकार की होती है किन्तु मिथ्यात्व की समाप्ति की अवस्था में जीव आसन्न सम्यक्त्वी बन जाता है। वह सम्यक्त्व के इतना समीप चला जाता है कि उसमें अंशमात्र ही मिथ्यात्व का अवशेष रह जाता है। इस अंशमात्र के कारण ही उसकी गणना मिथ्यात्व गुण-स्थान में होती है।

संक्षेप में मिथ्यात्व विपरीत मान्यता का द्योतक है। विपरीत मान्यता किसी भी रूप में अच्छी नहीं कही जा सकती। विपरीत मान्यता वाला व्यक्ति तो देवत्व-गुण-विहीन को भी देवता के रूप में अंगीकार कर लिया करता है। वह तो 'यादृशी भावना यस्य' वाले सिद्धान्त को मानकर कुदेव को भी सुदेव मान लिया करता है। कुगुरु को सुगुरु और कुधर्म को सुधर्म वह मान लेता है। ऐसा व्यक्ति तो पूर्णरूपेण मिथ्यात्वी होता है। ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि जो व्यक्ति 'यादृशी भावना यस्य' वाले सिद्धान्त को लेकर प्रस्तुत पदार्थ में सिद्धि के तत्त्वों के अभाव में भी वहाँ भावना के बल पर सिद्धि की कल्पना करता है तो वह जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता की सोपान पर आरूढ़ होने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए सम्यक्त्वी का कर्तव्य है कि वह संसार में प्रचलित भ्रान्तिपूर्ण और अमान्य मान्यताओं, धारणाओं और विचारधाराओं से अपने-आपको दूर रखे। गंगा गये तो गंगादास और जमुना गये तो जमुना-दास—ऐसा सम्यक्त्वी को नहीं होना चाहिए।

जैन-भवन, डेह (नागौर)

५ अगस्त, १९७९

मनुष्य जन्म दुर्लभ क्यों ?

शाश्वत सुखों की प्राप्ति कर्म-बन्धनों की मुक्ति के पश्चात् ही हुआ करती है। मुक्ति-विषयक वास्तविक ज्ञान भी सम्यक्त्व के अनन्तर ही प्राप्त होता है। सम्यक्त्व प्राप्ति के दो प्रकार हैं: स्वाभाविक रूप से और उपदेश द्वारा।

"तन्निसर्गादधिगमाद् वा"

मोक्षशास्त्र के प्रथम अध्याय का यह तीसरा सूत्र है जिसका अर्थ है कि सम्यक्त्व की जागृति दो प्रकार से होती है एक तो निसर्ग-स्वभाव से या अपने-आप भी कह सकते हैं और दूसरे किसी के उपदेश से। कोई यह भी पूछ सकता है कि जहाँ दो कारण होते हैं वहाँ एक कारण मुख्य होता है और दूसरा गौण। एक ही कारण के अस्तित्व में तो किसी प्रकार की विवक्षा नहीं होती किन्तु जहां दो हैं तो कोई विवक्षा होगी ही। मुख्य और गौण के अर्थ से तो आप भलीभाँति अभिज्ञ होंगे। जो विचार प्रधानरूप से अन्य विचारों का केन्द्र होता है वह मुख्य होता है, शेष विचार जो उस मुख्य के अनुगामी मात्र होते हैं, वे गौण कहलाते हैं। मुख्य और गौण की विचार-पद्धति पर चलने से किसी प्रकार के प्रबन्ध में अव्यवस्था नहीं आ पाती। वस्तु-तत्त्व को समझने में भी इससे आसानी रहती है। उदाहरण के लिये, यहाँ सभा में सौ व्यक्ति उपस्थित हैं, उनमें से एक बोलता हो और शेष सुन रहे हों बड़े ध्यान से कि वह क्या उपयोगी बात बोल रहा है, वहाँ वक्ता मुख्य कहलायेगा और शेष श्रोता गौण कहलायेंगे। हमारे सामने प्रसंग था कि निसर्ग से सम्यक्त्व प्राप्त करने वालों और उपदेश से सम्यक्त्व प्राप्त करनेवालों में कौन मुख्य और कौन गौण कह-लायेगा? इसका उत्तर यही है कि निसर्ग द्वारा जो सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है वह अपनी स्वयं की योग्यता के आधार पर करता है, किसी पर निर्भर नहीं रहता, इस कारण वही मुख्य है। इसके विपरीत उपदेश द्वारा प्राप्त की गई सम्यक्त्व की शक्ति तो दूसरे के निमित्त से उत्पन्न हुई, स्वयं की निर्भरता का उसमें अभाव है, इस कारण वह गौण है। शास्त्रीय भाषा में स्वयं की

प्रकार की गति को ही ध्यान में रखकर कहा गया है कि मनुष्यत्व की प्राप्ति बड़ी ही दुर्लभ है।

मनुष्यगति मिल भी गई तो फिर दूसरा दुर्लभ अंग है 'श्रुति'। श्रुति का शाब्दिक अर्थ है सुनना। जो सुनने योग्य हो उसे 'सुनना'। यों तो जिनके कान हैं वे कुछ न कुछ सुना ही करते हैं किन्तु वास्तविक सुनने लायक बातों का अवसर लोगों को कम ही मिला करता है। श्रवण करने योग्य बात कौन-सी होती है? श्रवण के योग्य बातें हैं, 'मैं कौन हूँ? यह सारा विश्व क्या है? शरीर में निवास करने वाला कौन है? शरीर का और इसमें निवास करने वाले का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? क्या यह सम्बन्ध स्थायी है या अस्थायी है? शरीर का वास्तविक स्वरूप क्या है? अन्दर रहने वाले जीव का क्या स्वरूप है? सब मनुष्यों के अंग, उपांग और अवयव एक समान होते हुए भी किसी का व्यक्तित्व आकर्षक और दूसरे का घृणित क्यों है? एक ही माता-पिता के दो पुत्रों में एक भाग्यवान् और दूसरा दर-दर की ठोकरें क्यों खाता फिरता है? कुछ लोगों को भगीरथ प्रयत्न करने पर भी सफलता क्यों नहीं मिल पाती और दूसरों को सामान्य प्रयत्न से ही उच्चतम फल की प्राप्ति क्यों हो जाती है? कुछ बालक जन्म से ही सर्वांग-सौन्दर्यपूर्ण क्यों होते हैं और अन्य जन्म से ही विकलांग क्यों?' इत्यादि-इत्यादि बातें सुनने लायक हैं और सुनकर मनन करने योग्य हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे व्यक्तित्व के धनी होते हैं जिनकी बातों को सुनते-सुनते मन अघाता ही नहीं और कुछ ऐसे ही होते हैं जिनकी आकृति से भी घृणा हो जाती है और जिनकी एक बात भी सुनने को मन नहीं करता। संसार में उच्चता और नीचता का क्या कारण है? जीवन में विषम परिस्थितियाँ अप्रत्याशित रूप में क्यों आ जाती हैं? इत्यादि-इत्यादि बातें सुनने लायक हैं, जानने लायक हैं।

इन सारी की सारी बातों या प्रश्नों का उत्तर तो सर्वज्ञ भगवान् ही दे सकते हैं किन्तु सर्वज्ञ तो हमारे प्रश्नों का उत्तर देने के लिए आ नहीं सकते, हम उनके द्वारा प्रतिपादित, अनुमोदित एवं प्रसारित शास्त्रों का सहारा ले सकते हैं, अपने प्रश्नों के समाधान के लिए। सर्वज्ञों द्वारा प्रतिपादित शास्त्र सुनने लायक हैं। कठिनाई यह है कि सर्वज्ञों द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों के श्रवण का योग मिलना भी सरल नहीं है। शास्त्रों को श्रवण कराने वाले सन्तों का योग मिल भी जाये तो उनका पर्याप्त लाभ उठाने वाले नहीं मिलते। हमारा कहने का सारांश यही है कि सुनने योग्य जो बातें हैं, जिनसे हमारा हित हो सकता है और हम अहित से बच सकते हैं, जो बातें हमें कर्तव्य का बोध कराती हैं और अकर्तव्य से हमारी रक्षा करती हैं—ऐसी सर्वज्ञों की बातों को या वाणी को सुनने का अवसर हमें सर्वदा सुलभ नहीं होता।

यहाँ पर एक ऐसी कड़ी था गई है जिस पर ध्यान देना परमावश्यक है। शास्त्रकार ने सर्वप्रथम तो मनुष्य जन्म की दुर्लभता बताई और फिर शास्त्र-श्रवण को दुर्लभ बताया। यह बात विचारणीय है। शास्त्र के श्रवण करने का योग तो देवलोक में देवों को भी प्राप्त होता है। तिर्यंचों को भी शास्त्र-श्रवण का योग मिल जाता है, नरक लोक में भी शास्त्र श्रवण सुलभ है क्योंकि वहाँ पर भी सम्यग्दृष्टि नैरयिक विद्यमान हैं। सम्यक्त्वधारी नैरयिक अपने किसी हितैषी मिथ्यात्वी नैरयिक को उपदेश भी दे देता है कि "तू व्यर्थ में ही इतना क्यों तड़प रहा है, क्यों इतने दुःख का अनुभव कर रहा है, बंधे हुए कर्मों को तो भोगना ही पड़ेगा, बिना भोगे उनसे छुटकारा सम्भव नहीं। आयुष्य कर्म तो बेड़ी के समान है। जितने समय का दण्ड है, उतने समय तक उसे भोगना ही पड़ेगा, रोने-चिल्लाने से उसमें परिवर्तन आने वाला नहीं है" इत्यादि। सान्त्वना-पूर्ण शब्दों में समझाने वाले नैरयिक नरक में भी होते हैं। तीर्थंकर गोत्र को बाँधने वाले और आगामी भवों में तीर्थंकर बनने वाले आत्माओं को भी नरक गति में जाना पड़ता है। तीन नरक तक के निकले हुए जीव तीर्थंकर हो सकते हैं। देवलोक के देवता भी यदि चाहें तो मनुष्यलोक में आकर शास्त्रों का श्रवण कर सकते हैं और वहाँ पर बैठे-बैठे भी शास्त्रचर्चा कर सकते हैं। इसी प्रकार तिर्यंचों को भी यहाँ पर तीर्थंकरों के मुखारविन्द से अथवा अन्यान्य मुनिराजों से वाणी सुनने का अवसर मिल सकता है। ऐसी स्थिति की दुर्लभता को जोड़ने का क्या प्रयोजन है। इसका उत्तर है कि शास्त्र का श्रवण जितना मनुष्य को फल सकता है उतना न देवों, न नारकों को और न ही तिर्यंचों को ही फलीभूत हो सकता है। अधिगमज सम्यक्त्व अर्थात् उपदेश द्वारा प्राप्त होने वाले सम्यक्त्व की प्रधानता तो मनुष्य गति में ही होती है। अन्य गति के जीवों की अपेक्षा मनुष्य को ही शास्त्र-श्रवण अधिक फलीभूत क्यों होता है, इसका भी कारण है। देव और नारक कुछ भी त्याग, व्रत और प्रत्याख्यान नहीं कर सकते, यह भी स्पष्ट कारण है किन्तु यह अपूर्ण कारण है क्योंकि तिर्यंचों के अन्दर भी श्रावकों के व्रत को धारण करने वाले मिलते हैं। यदि यह कहें कि सर्वविरति धर्म को धारण करने वाले तो मनुष्य गति में ही मिलते हैं तब भी समाधान अपूर्ण रह जाता है। वास्तव में त्याग, व्रत, प्रत्याख्यान का या साधु और श्रावक के व्रतों को धारण करने का यहाँ कोई महत्त्व नहीं है। यहाँ पर जिसका महत्त्व है उसका निर्देश उक्त सूत्र की गाथा के तीसरे चरण में है। वह है तीसरी दुर्लभ उपलब्धि 'श्रद्धा'। इस श्रद्धा का ही दूसरा नाम सम्यक्त्व है। इस श्रद्धा के अन्तरंग वास्तविक भाव को न समझने वाले लोग ही खोटी, खरी आदि विशेषण श्रद्धा के साथ जोड़ा करते हैं। श्रद्धा शब्द स्वयं में पूर्ण है और उदात्तभाव का द्योतक है, इसके भेद करना बुद्धिमत्ता नहीं है। श्रद्धा शब्द का

तो वास्तविक अर्थ ही 'श्रत्' अर्थात्—श्रेष्ठ प्रकार से, 'धा' अर्थात्—वस्तु स्वरूप को धारण करना है। श्रद्धा को जैसा कि पहले भी निर्देश किया जा चुका है सम्यक्त्व को प्रतीक ही समझना चाहिए। गाथा के तीसरे चरण में श्रद्धा को अंग कह कर सम्यक्त्व का ही निर्देश किया गया है।

सम्यक्त्व की प्राप्ति अपना विशिष्ट महत्व रखती है। इसका कारण है कि मनुष्यभव के अतिरिक्त दूसरे किसी भी भव में यदि शास्त्र सुन भी लिया जाये तो उससे अनादिकाल के मिथ्यात्व का मिट जाना सम्भव नहीं होता। मिथ्यात्व के भी दो प्रकार होते हैं : आज तक जिसका मिथ्यात्व छूटा ही नहीं है वह होता है अनादिकाल का मिथ्यात्व। ऐसे व्यक्ति को शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों में 'कृष्ण पक्षी' कहा है। ऐसा जीव मनुष्य भव में शास्त्र-श्रवण करके उस मिथ्यात्व से छुटकारा पा लेता है। दूसरे किसी भी भव में जीव भले ही कितनी ही वार शास्त्र का श्रवण क्यों न कर ले उसका अनादि-कालीन मिथ्यात्व नहीं छूट सकता। अब विचार यह करना है कि मनुष्य के अन्दर ही ऐसी कौन-सी शक्ति है जिसके कारण मनुष्य-भव में शास्त्र श्रवण करने से उसका अनादिकाल का मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है? इस प्रकार की शक्ति दूसरे भवों के जीवों में क्यों नहीं है? शास्त्रकार इन प्रश्नों का समाधान करते हुए कहते हैं कि नरक के अन्दर रहने वाले जीव दुःख से परि-पूर्ण होते हैं।

"नेरइया दुखसंसत्ता"

नारकीय प्राणी दिवानिश दुःख से व्याकुल रहते हैं। वहाँ तो सर्वत्र दुःख ही दुःख है, आराम और शान्ति का वहाँ काम नहीं है। ऐसी स्थति में उनके पास सोचने और समझने का अवकाश ही कहाँ है? जहाँ एकांत दुःख का वातावरण हो वहाँ सूझ भी क्या सकता है? देवलोक में रहने वाले देवताओं की स्थिति नारकों से सर्वथा विपरीत प्रकार की है। देवता लोग रात-दिन भोग-विलास में रत रहते हैं। वे विषयों में इतने खोये रहते हैं कि आत्मस्वरूप या वस्तुतत्त्व को समझने की ओर तो उनका ध्यान ही नहीं जाता। तिर्यंच विवेक-विकल ही होते हैं :

"तिरिया विवेक विकला"

जहाँ विवेक का ही अभाव है, वहाँ वस्तु-तत्त्व को समझने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता! एक मनुष्यगति ही ऐसी है जहाँ न तो अत्यन्त दुःख ही है और न ही देवलोक के समान अत्यन्त सुख ही है। यहाँ अधिक विवेक-विकलता भी नहीं है। यहाँ तो सभी बातों में मध्यम अवस्था है। यही कारण

है कि मनुष्य में सार-असार का विचार करने की शक्ति विद्यमान रहती है। अनादिकाल का मिथ्यात्व भी इसी कारण से मनुष्य भव में नष्ट हो जाता है। सम्यक्त्व के बताये गये दो भेदों में अधिगमज या उपदेशजन्य सम्यक्त्व से ही अनादिकाल का मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है और वह भी मनुष्य भव के अन्दर। जहाँ तक स्वाभाविक रूप से आने वाले सम्यक्त्व की बात है, एक बार अनादिकाल का मिथ्यात्व नष्ट होकर जीव को सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, एवं पुनः कषायों से वह सम्यक्त्व चला जाता है तब वह गया हुआ सम्यक्त्व निःसंदेह चारों गतियों के अन्दर बिना उपदेश के भी वापस आ सकता है। इस स्वाभाविकता का अस्तित्व तो सभी गतियों में होता है। अनादिकालीन मिथ्यात्व को मिटाने का उपाय मनुष्य गति के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है। इसीलिए शास्त्रकारों ने कहा है

"चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥

अर्थात्—

आत्मा के लिए चार अंग अत्यन्त दुर्लभ हैं। सर्वप्रथम मनुष्य का जन्म दुर्लभ है, मनुष्य का जन्म पाकर शास्त्र-श्रवण अत्यन्त दुर्लभ है। शास्त्र-श्रवण का अवसर पाकर भी श्रद्धा की प्राप्ति दुर्लभतर है और उक्त तीनों अंगों को पाकर भी श्रद्धा के अनुसार संयम में पराक्रम लगाना तो अत्यन्त कठिन है। दुर्लभतम चतुर्थ अंग की प्राप्ति के पश्चात् आत्मा के चौपड़ का खेल पूरा हो जाता है। आत्मा चारों अंगों का विजेता भी बन जाता है और कर्म रूपी शत्रुओं पर भी उसकी जीत हो जाती है। इसके बाद की अवस्था ही मोक्ष की है और शाश्वत सुखों की प्राप्ति भी तभी होती है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) ६ अगस्त, १९७९

आयुष्य-बंध और समुद्घात

जैसा कि हम अनेक बार कह चुके हैं, शाश्वत सुखों की प्राप्ति जीव को मुक्त होने के पश्चात् ही हो सकती है। मुक्त का विरोधी शब्द 'बद्ध' है जिसका अर्थ है 'बँधा हुआ'। जो सब प्रकार के बन्धनों से रहित है, वह मुक्त कहलाता है। शास्त्रों में 'बद्ध' शब्द का प्रयोग तो कम ही मिलता है। वहाँ तो 'संसारिणो मुक्ताश्च' अर्थात् संसारी और मुक्त शब्दों का ही अधिक प्रयोग है। कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो बँधे हुए तो हैं किन्तु छुटकारा पाने के लिए प्रयत्न करते हैं। मुक्त होने की अभिलाषा उनमें निरन्तर बनी रहती है। इस प्रकार की अभिलाषा और प्रयत्न उनको अपनी वर्तमान परिस्थिति का विरोध करने को बाध्य करते हैं। इस प्रकार का विरोध करना हर एक के वश की बात नहीं होती। दूसरे ऐसे हैं जो जिस बद्धावस्था में हैं उसी में रहना पसन्द करते हैं। इसका कारण है कि वे बद्धावस्था में ही आनन्द का अनुभव करते हैं। बन्धन में ही वे अपनी सुरक्षा मानते हैं और बन्धन के अतिरिक्त किसी भी वस्तु में उनकी रुचि ही नहीं होती। उन्होंने जो भी कुछ अपने जीवन में देखा, सुना या अनुभव किया होता है वह सारा का सारा बन्धनमय ही होता है। वे ऐसा भी सोचते हैं कि यदि हम बन्धन में नहीं रहे या हमारे बन्धन खुल गये तो हम यत्र-तत्र बिखर ही न जाएँ। भारा जब तक बँधा रहता है तब तक वह भारा कहलाता है, बिखरने के पश्चात् तो उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। क्या भारा रहना अच्छा है? कदापि नहीं। भारा तो भाररूप है। भारा का अस्तित्व तो भाररूप बने रहने में ही है, क्योंकि बिखरने के पश्चात् तो वायु उसका तिनका-तिनका उड़ा-कर ले जायेगी, तब खोज करने से भी अस्तित्व नहीं मिलेगा।

जब कोई किसी पर नाराज होता है तो मारवाड़ी भाषा में गाली के रूप में उसे कहता है, 'थारो खोज जाइज्यो'। यह गाली अच्छी है या बुरी, लोकजीवन में तो इसे बुरा ही समझा जाता है। जिसको यह गाली दी जाती है वह तो इसे इसलिए बुरा मानता है कि इसमें उसकी खोज भी नष्ट

करने की भावना निहित है। वह यह भी सोचता है कि यदि वह कहीं गुम भी हो जावे तो उसके चरण चिह्नों के आधार पर उसकी खोज तो की जा सकती है किन्तु जिसकी खोज के चिह्न ही समाप्त हो गये उसकी खोज भला कौन कर पायेगा। इस कारण उक्त गाली सुनने वाला गाली देने पर रुष्ट होता है। जिस व्यक्ति की आत्मा में ज्ञान-दशा जागृत नहीं हुई है, वही अपनी खोज को सही-सलामत रखने का प्रयत्न करता है। जो जीवन की वास्तविकता से परिचित हो चुका है वह तो जानता है कि जिसका नाश आसन्न-प्रभव है वह किसी हालत में भी रुक नहीं सकता भले ही कितने अंगरक्षक वह अपने साथ रख ले। उदाहरण के लिए महाभारत का एक कथा प्रसंग प्रस्तुत करते हैं :

महाभारत में कारणवश अर्जुन जयद्रथ के ऊपर अत्यन्त कोपायमान हो गये। उन्होंने यह प्रतिज्ञा ले ली कि कल सूर्यास्त से पहले-पहले वे जयद्रथ की हत्या कर देंगे, यदि इस प्रतिज्ञा को पूर्ण न कर सके तो स्वयं जलकर राख हो जायेंगे। बड़ी भयानक थी अर्जुन की यह प्रतिज्ञा।

अभिमन्यु-वध के पूर्व, प्रतिज्ञा तो द्रोणाचार्य ने भी ली थी कि या तो वे युधिष्ठिर को पकड़ेंगे और या फिर उन्हीं के सदृश किसी अन्य राजा को मारेंगे। दोनों की प्रतिज्ञाओं में यह अन्तर था कि द्रोणाचार्य ने तो प्रतिज्ञा अंधेरे में ली थी। जब अर्जुन ससप्तक राजाओं से युद्ध करने के लिए गये हुए थे, तब उनके पीछे यह प्रतिज्ञा की गयी थी परन्तु अर्जुन ने जो दूसरे दिन प्रतिज्ञा की वह अंधेरे में नहीं की। अर्जुन ने तो अपनी प्रतिज्ञा की स्पष्ट घोषणा कर दी थी कि कल की शाम तक या तो जयद्रथ नहीं या अर्जुन नहीं। संसार की कोई भी शक्ति जयद्रथ को शरण देने के लिये प्रस्तुत हो जाये परन्तु वह अर्जुन के बाणों से बच नहीं पायेगा। यह प्रतिज्ञा डंके की चोट से की गई थी। विशेष बात ध्यान देने योग्य यह है कि इस प्रतिज्ञा में अर्जुन ने दो बातों की छूट दे दी थी। एक तो यह कि यदि जयद्रथ उनको देखकर मैदान छोड़कर भागेगा तो उसका पीछा नहीं करेंगे। दूसरी यह कि यदि वह कृष्ण या युधिष्ठिर की शरण में चला जायेगा, तब भी उसका पीछा नहीं किया जायेगा। आप सब विचार कर देखो, ये दोनों बातें कितने महत्त्व की हैं। एक के अन्दर तो क्षत्रिय धर्म की पराकाष्ठा है, दूसरी में श्रीकृष्ण के प्रति और युधिष्ठिर के प्रति अर्जुन के उत्कृष्ट प्रेम और श्रद्धा की अभिव्यक्ति है। अपने पुत्र का घातक व्यक्ति भी यदि उपर्युक्त दो बातों में से किसी का आचरण कर लेता है तो उसके प्राणों को छोड़ देना – यह कितने महत्त्व की बात है। यह बात युद्ध की आचारसंहिता को चार चाँद लगाने वाली है।

द्रोणाचार्य ने जयद्रथ की रक्षा के लिए वज्र की एक कोठी बनाई। वह कोठी

इतनी पक्की थी कि भयानक से भयानक किसी भी प्रकार के शस्त्रास्त्र से भंग होने वाली नहीं थी। जयद्रथ को उस कोठी में बैठा दिया गया। आठ बड़े-बड़े योद्धा राजाओं को अंगरक्षक के रूप में उसके चारों ओर खड़े कर दिया जिससे कि कोई भी उस कोठी के समीप भी न फटक सके। बड़ा सख्त प्रबन्ध किया गया था जयद्रथ के प्राणों को बचाने के लिए। किन्तु हुआ क्या? सायंकाल सूर्य बादल के पीछे छिप गया। युद्ध की व्यग्रता के कारण कोई भी यह नहीं जान पाया कि सूर्य बादलों के पीछे है। सबने यही समझा कि सूर्य तो अस्त हो गया है। ऐसा समझकर अर्जुन ने भी स्वयं के दाह के लिए अग्निकुण्ड की रचना करवा डाली—क्योंकि वह अभी तक जयद्रथ को मार नहीं सका था, अपनी प्रतिज्ञा पूरी नहीं कर सका था। सब पाण्डव और कौरव अग्निकुण्ड के पास यह सारा काण्ड देखने के लिए एकत्रित हो गये। जयद्रथ को भी पता चला कि उसका शत्रु अर्जुन अग्नि की शरण में जा रहा है। उसने सोचा कि "मेरी आंखों को ऐसा सौभाग्य फिर कब मिलने वाला है, मैं भी शत्रु को नष्ट होते देखकर क्यों न आनन्द का अनुभव कर लूं।" अर्जुन को जलता देखने के लिए जयद्रथ ने अपनी कोठी का ढक्कन हटा दिया और अपना मुंह बाहर निकाला। सहसा बादलों में तिरोहित सूर्य बाहर निकल आया। श्री कृष्ण ने तुरन्त अर्जुन को संकेत किया। संकेत पाते ही अर्जुन ने अपना धनुष उठाया और चला दिया बाण जयद्रथ की गर्दन पर। पता भी नहीं चला किसी को कि यह सारी क्रिया कब हो गयी। लोगों ने देखा कि बाण से बिंधा हुआ जयद्रथ का सिर हवा में उड़ता चला जा रहा है। आकाश में ऐसा भयानक दृश्य देखते ही लोगों में हाहाकार मच गया। इतनी लाघवता थी अर्जुन में, इसी का नाम है—लाघवी विद्या। यह काम मन्दगति से होने वाला नहीं था। अर्जुन ने तो यह काम कुछ ही क्षणों में कर डाला था। तो यहां तो हमारा कहने का और यह उदाहरण प्रस्तुत करने का यही आशय था कि नाशवान् वस्तु को जिस समय नष्ट होना है वह अवश्य होगी, उसे संसार की कोई भी शक्ति नहीं रोक सकती। जो विनाशी है वह अविनाशी नहीं बन सकता।

संसार में ज्ञानी पुरुष ही इस तत्त्व को समझते हैं। तभी तो वे अपने शरीर की विशेष रूप से परवाह नहीं किया करते। वे तो आत्मोन्मुखी होते हैं। वे इस बात को अच्छी तरह जानते है कि अविनाशी आत्मा कभी भी बन्धन पसन्द नहीं करता। यदि वह शरीर के बन्धन को पसन्द करता होता या उसको बन्धन इष्ट होता तो वह इस शरीर को कभी छोड़कर न जाता। शरीर का बन्धन तो दरकिनार, आत्मा तो कर्मों के बन्धन में बंधकर रहना भी नहीं चाहता। समय-समय पर जैसे-जैसे उसे अवसर मिलता है वह कर्मों के बन्धन को भी मिटाने का प्रयत्न किया करता है। परन्तु वह करे भी क्या, अनादिकाल से

जो उसके साथ कर्म चिपटे हुए हैं उनसे सहसा मुक्ति पाना उसके लिए सम्भव नहीं होता। इसके अतिरिक्त कर्म, कर्मों को आकर्षित किया करते हैं। दूर की स्थिति वाले अपने सहयोगियों को भी कर्म अपनी ओर खींचकर लाने का प्रयत्न करते हैं। बन्धन की यह परम्परा निरन्तर चालू रहती है, मिटती नहीं। बाकी आत्मा तो जैसा कि हम पहले बता आये हैं बन्धनों से छूटने के लिए सदा छटपटाता रहता है। उसे बन्धन पसन्द नहीं। आत्मा की इस छटपटाहट पर शास्त्र में एक बड़ा सुन्दर उदाहरण आता है—तेल के कड़ाहे का। अग्नि के ऊपर रखे हुए तेल के कड़ाहे में अग्नि की तीव्र आंच से तेल उबलने लगता है। खौलते समय उसमें से एक अव्यक्त ध्वनि भी निकलती है। इसके अतिरिक्त अग्नि की उत्कट गरमी से तेल ऊंचा-नीचा होता हुआ भी स्पष्ट दिखाई दिया करता है। ऊपर का हिस्सा नीचे जाता है और नीचे का ऊपर को आता है। अग्नि की भयानक उष्णता के कारण तेल का प्रत्येक परमाणु चचल बन जाता है। अग्नि की तीव्रता के आगे वह कर भी क्या सकता है? इसी प्रकार आत्मप्रदेश जब तक कर्म के साथ बंधे रहते हैं, तब तक आत्मा की भी यही दशा होता है। आत्मप्रदेश सारे शरीर के अन्दर चक्कर लगाया करते हैं। वे एक स्थान पर स्थिर नहीं रहते, स्थिर इसलिए नहीं कि उनके साथ भिन्न पदार्थ की शक्ति लगी हुई है। स्वय चैतन्य होते हुए भी वह कर्मों की जड़ शक्ति से आवृत है। उस विरोधी जड तत्त्व से छुटकारा पाने के लिए आत्मा छटपटाया करता है। या दूसरे शब्दों में आत्मप्रदेश छटपटाया करते हैं।

इसके अतिरिक्त आपने यह भी देखा होगा कि कड़ाहे में जब तेल खौलता है तो उसके अन्दर से सफेद-सफेद भाग निकला करते हैं। प्रान्त भागों के झाग तो बड़ी आकृति के होते हैं किन्तु मन्दगति से सिमटते हुए वे मध्यभाग में आकर छोटी आकृति के हो जाते हैं। छोटी आकृति में आकर वे पूर्ववत् चचल नहीं रहते। हमारे भी जो बीच में आत्मप्रदेश हैं वे मध्यवर्ती प्रदेश रुचक प्रदेश कहलाते हैं। उन रुचक प्रदेशों की सख्या आठ है। ये आठों ही प्रदेश एक स्थान पर स्थिर रहते हैं। बाकी के असख्य आत्मप्रदेश तो गतिशील रहते हैं। अपने से परिचित व्यक्ति के विषय में हम जो कुछ सुनते हैं, सुनने के साथ ही हमारे आत्मप्रदेशों की स्थिति और आकृति भी वैसी बन जाया करती है। उस समय हमें ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे कि उस व्यक्ति के सम्पर्क का दृश्य हमारी अन्तर्दृष्टि के सामने प्रत्यक्ष हो। ठीक चित्रपट की रील के समान बन जाता है उस समय हमारा अन्तर्मन। जैसे चित्रपट पर हजारों चित्र एक मिनट में खिसकते चले जाते हैं, हमें ज्ञात ही नहीं हो पाता कि एक चित्र दूसरे चित्र से जुड़ा हुआ है, ठीक इसी प्रकार हमारी विचारधारा में भी अनेक प्रकार के दृश्य उपस्थित होने लगते हैं। उन दृश्यों के अनुसार ही हमारे

आत्मप्रदेश उन-उन आकृतियों में परिवर्तित होते रहते हैं। ऐसी स्थिति में जो भी आकृति या दृश्य हमारी विचारधारा में उतर गये, उन-उनके साथ हमारा बन्ध हो जाता है। उन विचारधाराओं से यह आत्मा इस प्रकार बन्ध जाता है कि बाकी के सीन तो आये-गये हो जाते हैं। वह सीन या दृश्य जिसके ऊपर हमारा ध्यान केन्द्रित हो जाता है, जिसपर राग या द्वेष आ जाने से आत्मा के साथ बन्धन होता है, उसी के अनुसार हमारे अगले भव या जन्म का निर्माण हुआ करता है। आगामी भव के सारे बन्धे हुए सीन हमारे सामने आ जाया करते हैं। जिस विचारधारा के साथ हम बन्ध जाते हैं, उसके अनुसार ही हमारे आगामी भव के आयुष्य का बन्ध होता है। जिस समय हमारा यह भव समाप्त होने को होगा उस समय हमारा अगामी भव का आयुष्य बन्धा होगा और हम अगले जन्म के लिए तैयार होंगे। जिस समय किसी प्रस्तुत विचारधारा के साथ हमारा आयुष्य बन्ध रहा था उस समय इस बात का हमें तनिक भी भान नहीं था कि हमारा आगामी भव का आयुष्य बन्ध रहा है। हमें भान भले ही न हो किन्तु हमारा वह बन्ध उसी समय जमा हो जाता है। जब हम मरण के सन्निकट होते हैं, इस भव की समाप्ति होने के लगभग मुहूर्त-भर पहले ही वे सारी विचारधाराएँ हमारे स्मृति-पटल पर अंकित हो जाती हैं। इसको शास्त्रीय भाषा में ज्ञान नहीं कहा जाता किन्तु 'आनुपूर्वी' कहा जाता है। नाम कर्म की तिरानवे प्रकृतियों में से चार प्रकार की आनुपूर्वी प्रकृतियाँ हैं। आयुष्य बन्धने के समय जो हमारे भाव थे, संठाण थे, लेश्या थी, वे के वे सभी उस समय आ जाते हैं और उन्हीं के अनुसार फिर हमारा अगले भव में जाना होता है। संक्षेप में, कहने का अभिप्राय यही है कि आत्मा का जब अमुक विचारधाराओं के साथ बन्ध पड़ जाता है उसी समय हमारे अगले भव के आयुष्य का भी बन्ध हो जाता है।

यह बात ध्यान में रखने की है कि आयुष्य का बन्ध एक भव में एक बार ही होता है। कर्म निःसन्देह बार-बार बन्धते रहते हैं। अनेक भवों का आयुष्य एक भव में बन्धना संभव नहीं होता। एक ही भव में हम कर्म को इतने अधिक बान्ध सकते हैं जिनको लाखों, करोड़ों भव तक भोगते रहें। कई बार इतने कर्म बन्ध जाते हैं कि अनेक भवों में भोगते-भोगते भी हम उनसे छुटकारा नहीं पा सकते। इसका कारण यह है कि उस कर्म प्रकृति की जितनी स्थिति होती है उसके अनुसार ही हमें कर्मफल भोगना पड़ता है। और भवों की स्थिति तो स्वतः ही थोड़ी होती है। इस प्रकार आगामी भव का आयुष्य तो एक जन्म में एक बार ही बन्धता है। किस समय वह आयुष्य बन्धा करता है, इसको जानने का भी शास्त्रकारों ने उपाय बताया है। जितना हमारा आयुष्य होता है, उसके तीसरे भाग के अन्दर अगले भव का आयुष्य बन्धता है।

यदि किसी कारणवश तीसरे भाग में न बन्ध सके तो फिर शेष रहे आयुष्य के तीसरे भाग में बन्धता है। यदि उस समय भी न बन्ध सका तो फिर जो शेष रह गया है, उसके तीसरे भाग में बन्धेगा। इस तरह भाग करते-करते जब भव का अन्त आ जाता है, तब भी आयुष्य बन्ध सकता है। ऐसा भी हो जाता है कि कभी कभी आयुष्य बन्धता ही नहीं है, ऐसी दशा में आत्मा चक्कर लगाती रहती है। ऐसी स्थिति शास्त्र की पारिभाषिक भाषा में 'मारणान्तिक समुद्घात' भी कहलाती है। जिस समय आत्मा अपने ठिकाने को देखने के लिए जाता है उस समय बहुत-से आत्मप्रदेश शरीर के अन्दर से निकलकर चले जाते हैं। ये आत्मप्रदेश मृत्यु से पूर्व ही शरीर से निकल जाते हैं उस स्थान की खोज में जहाँ उनको जाना होता है। ठिकाना देखकर वे लौट आते हैं उसी शरीर में जहाँ अब तक स्थित थे। आत्मप्रदेशों में जो आठ रुचक प्रदेश हैं वे पहले नहीं जाते। ये जो मध्य के आठ रुचक प्रदेश हैं, वे एक बार शरीर से निकल गये तो पुनः उसमें प्रवेश नहीं करते। वैसे शरीर के अन्दर से अन्यान्य आत्मप्रदेश तो अनेक प्रसंगों पर बाहर निकल जाया करते हैं। सारे कभी नहीं निकलते, कभी थोड़े और ज्यादा निकल सकते हैं।

सात प्रसंगों पर आत्मप्रदेश शरीर से बाहर निकला करते हैं। शास्त्रकारों ने कोई भी बात गुप्त नहीं रखी, लोगों के हित के लिए सब कुछ बता दिया है। ग्रहण करना या न करना यह तो लोगों की इच्छा पर निर्भर है। शरीर से सात प्रसंगों पर निकलने वाले आत्मप्रदेशों को समुद्घात कहा जाता है। समुद्घात का अर्थ है कि मूल शरीर को छोड़े बिना आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकल जाना। सर्वप्रथम समुद्घात है—वेदनीय। वेदनीय दो प्रकार का होता है—साता वेदनीय और असाता वेदनीय। लेकिन लौकिक व्यवहार में तो केवल एक वेदनीय—असाता या पीड़ा ही प्रसिद्ध है। बड़े आश्चर्य से हम कहते हैं, 'ओ हो! बेचारों ने कितना वेदनीय कर्म बान्ध रखा है! किसी दुःखी को, पीड़ित को और रोगी को देखकर प्रायः ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है। वास्तव में वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ हैं, साता वेदनीय और असाता वेदनीय। वेदना में कुछ वास्तविकता है या नहीं है यह भी विचारणीय बात है। हमारे विरुद्ध जब कोई चुभने वाली बात कह देता है तो हमें बहुत दुःख का अनुभव होता है। कोई पास बैठा व्यक्ति हमको समझाता हुआ कहता है, 'अरे भोले मनुष्य! तुम इतना क्यों फील करते हो, सामने वाले ने तो केवल शब्द ही बोले हैं, उन शब्दों से ही तुम्हें इतनी दुःखानुभूति हो रही है कि उसने ऐसा तुमको कहा ही क्यों ?" उत्तर में हम उसे कहते हैं कि "इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी उसने हमारा तनिक भी लिहाज नहीं रखा। इसके बड़े भाई-बन्धु किसी ने भी तो मुझे आज तक ऐसी बात नहीं कही जो इसने कह दी।" इस प्रकार हम

बहुत ही दुःखानुभव करते हैं। दूसरी ओर एक ऐसा व्यक्ति है जिसको किसी-ने पत्थर मार दिया, गहरी चोट लग गई और रक्त बहने लगा। चोट खाने वाले को यह पता लगा कि पत्थर मारने वाले का लक्ष्य वह नहीं था, उसने तो किसी ओर के मारा था किन्तु निशाना चूक गया और पत्थर उसके लग गया। यह सब असावधानी से हुआ। ऐसा विचार करके चोट खाने वाला वेदना का अधिक अनुभव नहीं करता।

अब आप वेदनीय शब्द पर विचार करें। वास्तव में वेदना है क्या? पत्थर की चोट खाने वाला व्यक्ति, जिसके चोट के कारण जख़्म भी हो गया है वह इतनी वेदना का अनुभव नहीं कर रहा है जितनी कि वह जिसको कि केवल विरुद्ध शब्द बोले गये थे और उन शब्दों का उसके शरीर पर कोई आघात भी नहीं है। शरीर का घायल मन की पीड़ा से इतना व्याकुल नहीं है जितना कि वाणी से घायल मानसिक पीड़ा से संतप्त है। लोगों के बहुत समझाने-बुझाने पर भी मन के घायल की वेदना शान्त नहीं हो पा रही। अब हम आपसे पूछते हैं कि वेदना या दुःखानुभूति क्या वास्तविकता पर आधारित है अथवा विचारधारा पर आधारित है? व्यवहार की दृष्टि से देखें तो अधिक वेदना तो उसको होनी चाहिए जिसके पत्थर की चोट लगी है और घाव भी हो गया है। वास्तविकता यह है कि वेदना की अनुभूति हमारी विचारधारा पर अवलम्बित है। इसी वेदना को ज्ञानी पुरुषों ने 'वेदनीय कर्म' कहा है। साता वेदन और असाता वेदन—इन दोनों से वेदना के समय आत्मा अपना भान भूल जाता है। असाता हो गई और सहनशीलता का अभाव है तो व्यक्ति हाय-हाय और त्राहि-त्राहि मचा दिया करता है। वह छटपटाने लगता है, तड़-पता है और अपने हाथों-पैरों को इधर-उधर पटकता है। वह समय आत्म-प्रदेशों का बाहर निकलने का होता है। इसको वेदनीय समुद्घात भी कहते हैं। अपने दुःख को अन्दर ही समेटने की शक्ति न होने के कारण ही ऐसा हुआ करता है। इसी प्रकार तीव्र ज्वर आ गया, शरीर से गरमी की ज्वालाएँ-सी निकलने लगीं, श्वास तीव्र गति से चलने लगा और शरीर तपने लगा—ऐसी दशा में भी आत्मप्रदेश शरीर से बाहर निकल जाते हैं। आत्मप्रदेश को रोकने की शक्ति तो सहनशीलता में ही होती है, सहनशीलता का अभाव होने से आत्मप्रदेश शरीर में टिक नहीं पाते।

इसी तरह से कषाय समुद्घात भी होता है। ऊपर के विवरण में वेदनीय के केवल एक ही पहलू पर प्रकाश डाला गया है। साता या सुख का भी जिस समय वेदन या अनुभव होता है, उस समय भी व्यक्ति अपने आपे में रहने नहीं पाता। शरीर द्वारा अनेक प्रकार की चेष्टाएं करने लगता है। दूसरे देखने वाले उस समय यह कहने लगते हैं कि, "यह तो फूल कर कुप्पा हो गया है।" कभी-

कभी तो अत्यधिक उल्लास के कारण व्यक्ति अपने जीवन से भी हाथ धो बैठता है। उसके हृदय की गति सहसा बन्द हो जाती है। इसके पीछे भी एक रहस्य छिपा हुआ है जो प्रसंग आने पर आपको बताया जायेगा।

साता के वेदन में भी आत्मप्रदेश बाहर निकल जाते हैं शरीर से। साता और असाता दोनों को सहन करने की शक्ति के अभाव में ही ऐसा होता है। इसी प्रकार कषाय में भी जब क्रोध का आविर्भाव होता है तो आँखें लाल हो जाती हैं, ओंठ फड़फड़ाने लगते हैं, मनुष्य का सारा शरीर काँपने लगता है और चेहरा विकराल हो जाता है। वह भूत के समान नाचने लगता है। उस समय भी आत्म-प्रदेश शरीर से बाहर निकल जाते हैं। इसको कहा जाता है, 'कषाय-समुद्घात'। तीसरी समुद्घात है—'मारणांतिक'। मारणांतिक समुद्घात के विषय में आपको पहले बताया जा चुका है। इसी प्रकार एक 'तेजस्-समुद्घात' होती है जिसमें तेजस् लब्धि का प्रयोग किया जाता है। एक आहारक समुद्घात भी होती है जिसमें एक पुतला निकालकर केवल ज्ञानियों या सर्वज्ञों के पास भेजा जाता है। इसका उद्देश्य होता है—प्रश्न का समाधान पाना और समवसरण की ऋद्धि-सिद्धि को देखना। आहारक समुद्घात को आहारक लब्धि भी कहते हैं।

एक 'वैक्रिय समुद्घात' भी होती है। इसमें एक के अनेक रूप बनाये जाते हैं। एक ही व्यक्ति हजारों-लाखों अपने रूप बना सकता है। उन सब रूपों में आत्मप्रदेश रहते हैं। सब रूपों में आत्मप्रदेशों के सद्भाव में भी सबका सबंध रुचक प्रदेशरूप मूलात्मा से रहता है। रुचक प्रदेश वाले रूप से ही सारा तंत्र संचालित हुआ करता है। बाकी के सब रूप तो भाड़ायती टट्टू होते हैं, कठ-पुतली के समान भी उनको समझा जा सकता है। सारे आत्मप्रदेशों की बाग-डोर उस मूल व्यक्ति के हाथों में रहती है जहाँ रुचक प्रदेश रहते हैं। इस प्रकार वैक्रिय समुद्घात में भी आत्मप्रदेश बाहर निकलते हैं।

केवली समुद्घात के समय भी बाहर निकलते हैं। केवली समुद्घात तो अपने-आप होती है किन्तु बाकी तेजस्, वैक्रिय और आहारक—ये समुद्घातें जान-बूझकर की जाती हैं। आठ समय के स्वल्पकाल में ही केवली समुद्घात हो जाती है। शरीर के अन्दर हमारा आत्मा समेटे हुए कपड़े के समान पड़ा रहता है। जब केवली समुद्घात की जाती है, तो वह आत्मा चौदह राजू लोक के अन्दर व्याप्त हो जाता है। जैसे किसी सोलह पटों वाले कपड़े को खुला करते-करते एक लड़ा हो जाने के पश्चात् वह कितना लम्बा हो जाता है। उस कपड़े को झटका दिया जाये तो रजकण झड़ने से कपड़ा स्वच्छ व हल्का बन जाता है, इसी प्रकार आत्मा जब चौदह राजू लोक में फैल जाता है, उस समय ऐसी प्रक्रिया बन जाती है कि कर्मों की वर्गणाएँ उससे निर्जरित होने लग जाती

हैं। आठ समय के अन्दर जिस शरीर से आत्मा निकला था उसी में प्रविष्ट हो जाता है। आठ रुचक प्रदेश तो हर एक हालत में वहीं रहते हैं। इसका कारण यह है कि केवली समुद्घात करने वाला व्यक्ति लोक के मध्य भाग में है। मनुष्य क्षेत्र के अन्दर ही केवली समुद्घात होती है। मनुष्य क्षेत्र बिल्कुल बीच में है। इसलिए उन रुचक प्रदेशों को केवली समुद्घात करने के समय भी बाहर निकलने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे जहाँ पर हैं, वहीं टिके रहते हैं।

हमारा कहने का आशय यही है कि जिस समय हमारा अगले भव का आयुष्य बंधा हुआ होता है, उस आयुष्य बन्ध के साथ जो हमारी विचारधारा थी, वही विचारधारा मृत्यु के समय जागृत हो जाती है। इस प्रकार का आयुष्यबन्ध संसार में परिभ्रमण करने वालों का ही होता है, जो मोक्ष में जाने वाले आत्मा हैं, उनका आगामी भव का आयुष्य नहीं बंधा करता। आयुष्य कर्म की प्रकृति के अन्दर सबसे अधिक आयुष्य तेंतीस सागरोपम की ही होती है, इससे अधिक नहीं। विमुक्त होने वाला आत्मा जिस अवस्था में रहेगा उस अवस्था का नाम है—'सादि-अनन्त।' सादि-अनन्त का अर्थ है कि मुक्त अवस्था का आदि तो है किन्तु उसका अन्त नहीं है। ऐसी कोई भी कर्म प्रकृति नहीं है जिसकी स्थिति सादि-अनन्त हो। यही कारण है कि मुमुक्षु आत्माओं के आयुष्य का बन्ध नहीं हुआ करता। किसी भी कर्म के उदयभाव में मुक्तावस्था नहीं मानी जा सकती। मुक्तावस्था तो तभी प्राप्त होती है जब सारे के सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं और बन्धन टूट जाते हैं। शाश्वत सुखों की प्राप्ति जीव को तभी होती है।

जैन-भवन, डेह (नागौर)

९ अगस्त, १९७९

जो वस्तु हमारे सामने है, हमारी दृष्टि में आ रही है, हमारी अनुभूति द्वारा गम्य है, वह उदयावस्था कहलाती है। लोग बहुत बार यह पूछताछ किया करते हैं कि 'हमारा भाग्योदय कब होगा ?' पूछने वालों को निःसन्देह यह ज्ञान अवश्य होता होगा कि उनके भाग्य के अन्दर अनेक बातें होंगी। इसका कारण है कि ऐसे व्यक्तियों को भी हम देखते हैं जिनका भाग्य खुला हुआ है या उदय में आया हुआ है, और उस भाग्य के परिणामस्वरूप उनको अनेक प्रकार की आनन्द की वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं; तो इससे हमें यह मानना पड़ता है कि उस व्यक्ति के भाग्य में पहले से वे वस्तुएँ मौजूद थीं। किसी के भी भाग्य में अनेक बातों का सद्भाव इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। किस के भाग्य में क्या है, इसको जानना बड़ा कठिन होता है। किसी नीतिकार का कथन भी है :

पुरुषस्य भाग्यं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः।

अर्थात्—पुरुष के भाग्य में क्या लिखा है इसका पता तो देवताओं को भी नहीं लग पाता मनुष्य की तो बात ही क्या है ?

अपने भाग्य के विषय में जानने वाला व्यक्ति यह अच्छी तरह से जानता है कि उसके भाग्य में है तो बहुत कुछ किन्तु वह उदय में नहीं आया है। 'सूर्योदय कब होगा ?' ऐसा भी प्रश्न पूछा जाता है, इस प्रश्न के पीछे यह बात तो निश्चित है ही कि संसार में सूर्य नाम की कोई सत्ता तो अवश्य है किन्तु उसका अभी उदय नहीं हुआ है। वह अभी परोक्ष में है, अभी प्रत्यक्ष में नहीं आया है। जो कर्म हमने पिछले अनेक भवों में बाँधे और जो कर्म कितने ही भवों के पहले बाँधे, वे अभी तक उदय में नहीं आये हैं। ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि जो बँधे हुए कर्म हैं, वे स्टाक में पड़े हैं, सत्ता में हैं। जब तक उनका वितरण नहीं होता, या दूसरे शब्दों में वे उदय में नहीं आते तब तक उनके फल का हमें क्या पता चल सकता है ? जब वे उदय में आयेंगे उसी समय हमें उनके अच्छे या बुरे परिणाम का पता चल सकेगा।

दो तरह से कर्म उदय में आते हैं : एक तो अपने-आप उदय में आ जाया करते हैं और कई बार उनको उदय में लाने के लिए व्यक्ति को प्रयत्न भी करना पड़ता है। जो व्यक्ति भाग्य के भरोसे बैठ जाता है, उसका अर्थ होता है कि वह अपने कर्मों को उदय में लाने का प्रयत्न नहीं करता है। दूसरा व्यक्ति भाग्य के भरोसे पर नहीं बैठता, वह पुरुषार्थ में दृढ़ विश्वास रखता है और उसकी यह दृढ़ धारणा बनी होती है कि अकेले भाग्य के भरोसे कुछ भी नहीं बन सकता, बनता तो पुरुषार्थ करने से है। वे तो कहते हैं कि :

"दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति"

अर्थात्—भाग्य का भरोसा करना तो कायर पुरुषों का लक्षण है। हिन्दी के भी एक कवि ने कहा है :

"बिना डुलाये ना मिले ज्यों पंखे की पौन"

अर्थात्—पंखे की हवा भी बिना हाथ के डुलाये नहीं मिल सकती। जब बिजली नहीं आई थी, उस समय लकड़ी के फ्रेम पर कपड़े के पंखे छत से लटके होते थे। उनसे डोरी बँधी होती थी। परिचारक डोरी खींचता रहता था जिससे कपड़ा हिलता रहे और हवा आती रहे। डोरी हिलाने में पुरुषार्थ किया जाता था तभी तो हवा मिलती थी। आजकल बिजली के पंखे लग गये हैं, बटन को छूते ही गतिशील तो हो जाते हैं किन्तु तभी जब तार में करंट हो। पुराना तरीका और पुरुषार्थ स्व के अधीन थे और आजके पर के अधीन हैं। बना-बनाया भोजन थाल में परोसा हुआ सामने लाकर रख भी दिया जाये तो ग्रास तोड़ने में और दाँतों से चबाने में पुरुषार्थ तो स्वयं को ही करना पड़ता है। यदि ऐसा नहीं किया जायेगा तो वह भोजन किसी दूसरे के ही गले में उतरेगा। हमारा कहने का अभिप्राय है कि उद्यम तो पुरुष को करना ही पड़ेगा। पुरुष को पुरुष कहते ही इसलिए हैं कि वह पुरुषार्थ करे। इस उद्यम का नाम ही उदीरणा है। कर्मों को उदय में लाने के लिए जो प्रयत्न किये जाते हैं, उनका नाम ही शास्त्रीय भाषा में उदीरणा है। संस्कृत का यह शब्द बिगड़कर हिन्दी में उधेड़ना बन गया है। यदि डोरा किसी वस्तु पर लिपटा हुआ हो तो उसे हम सर-सर उधेड़कर अलग कर डालते हैं। इसी प्रकार उदीरणा के द्वारा जो कर्म पहले मन्दगति से उदय में आते वे ही अब शीघ्र गति से उदय में आने लगते हैं। इस प्रक्रिया में बहुत से समय की बचत हो जाती है।

अशुभ कर्मों को उदय में लाने के लिए ही सदा उदीरणा की जाती है। शुभकर्मों को उदय में लाने के लिए उदीरणा की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसका कारण है कि शुभ कर्मों का परिणाम भोग या सुख होता है और उस सुख को भोगने के लिए जो भी प्रयत्न किये जाते हैं, उनको उदीरणा नहीं कहा जा सकता। इसलिये नहीं कहा जा सकता कि उन प्रयत्नों के द्वारा जो सुख मिलेगा, ऐशो-आराम मिलेगा उससे संभव है कुछ न कुछ मन में आसक्तिभाव या रागभाव उत्पन्न हो जाये और सुख तथा शुभ कर्म भोगते-भोगते आत्मा नये कर्म भी बाँध ले। इसीलिए शुभ कर्मों को उदय में लाने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। उनको तो उपशम भाव में ही रखना चाहिए ऐसी शास्त्र की आज्ञा है। इसीलिए ज्ञानी पुरुष अशुभकर्मों को, जिनके भोगने में पीड़ा होती है, दुःख होता है, उदय में लाने का प्रयत्न किया करते

है। तपश्चर्या करने से शरीर की शक्ति क्षीण हो जाती है, कुछ दुःख का भी अनुभव होता है। लोच करना, आतापना लेना, एक पैर पर खड़े होकर ध्यान करना, बैठकर भी विभिन्न आसनों में ध्यान करना जिससे कि शरीर में कुछ न कुछ पीड़ा हो——आदि-आदि ऐसी अनेक कष्टप्रद क्रियाएं हैं जिन को यदि समभाव से सहन कर लिया जाये तो उदीरणा होती है। जिस व्यक्ति में न तो सहन करने की शक्ति है और न ही भावना है वह उदीरणा नहीं कर सकता। वह तो यही सोचा करता है कि कर्म जैसे-जैसे अपने-आप उदय में आते जायेंगे, भोग लिया जायेगा, क्यों व्यर्थ में अभी से कष्ट मोल लिया जाये।

तो ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि जो कर्म पहले से बन्धे हुए हैं वे जब फल भुगताने के लिए आते हैं तो उसको कर्मों का उदय कहा जाता है। जिस समय कर्मों का उदय होता है तो कर्म अपना दुष्प्रभाव आत्मा पर डालते हैं। आत्मा उदयावस्था में कमजोर पड़ जाता है। कर्मों की शक्ति बलवत्तरा हो जाती है।

कर्मों की उदय की अवस्था में भी कभी-कभी ऐसी विचारधारा उत्पन्न हो जाती है कि कर्मों का उदय एकदम रुक जाता है। या ऐसा कहो कि कर्मों का उदय रुकता नहीं किन्तु उसे रोक दिया जाता है। जैसे कि किसी को क्रोध आ जाये और वह उसको रोककर उसको शांत कर दे। इस प्रकार के रोकने के भाव को उपशम भाव कहते हैं। मन के विचारों की धारा बदलने की आवश्यकता है। विचार परिवर्तित होते ही क्रोध शांत हो जाता है। किसी व्यक्ति की आकृति पर क्रोध के लक्षण देखकर सामने बैठे व्यक्ति ने सोचा कि पता नहीं क्रोध के वशीभूत होकर वह क्या कह बैठे और क्या कर बैठे। और वास्तव में वह क्रोध के आवेश में भी था परन्तु उसके मन में विचार आया, 'अरे क्रोध करना तो बहुत बुरी बात है, क्रोध का परिणाम तो कई बार बहुत ही भयानक होता है। क्रोध तो आपत्ति का मूल है। क्यों न क्रोध के स्थान पर प्रेम भाव से ही मैं अपने झगड़े का निपटारा कर लूं।' इस प्रकार की चिन्तनधारा से क्रोध का तूफान एकदम शान्त हो जाता है। इसी का नाम उपशम भाव है। इस भाव से क्रोधादि जितने भी अशुभ कर्म हैं वे उप-शान्त हो जाते हैं। वे कर्म फिर निर्बलता की स्थिति में आकर जोर नहीं पकड़ पाते। उपशम भाव में आत्मिक शक्ति का विकास होने के कारण कर्म निर्बल पड़ जाते हैं। कर्मों को निर्बल बनाने की शक्ति आत्मा के अन्दर ही रहती है। कर्मों के उपशमन की इस प्रक्रिया से आत्मा को जो लाभ पहुँचा वह कहलाया औपशमिक लाभ। कर्मों के उदयकाल में आत्मा पर जो बुरा प्रभाव पड़ता है वह औदयिक भाव कहलाता है।

उपशम सम्यक्त्व भी होता है। इसमें मिथ्यात्व की सहायक कर्मप्रकृतियाँ एकदम दब जाती हैं। औपशमिक भाव में सम्यक्त्व और चारित्र दोनों रहते हैं। उदयभाव तो सभी कर्मों का होता है अर्थात् आठों ही कर्मों की सभी प्रकृतियाँ उदय में आती हैं किन्तु उपशम भाव केवल मोहनीय कर्म का ही होता है। मोहिनीय कर्म की ही प्रकृतियाँ उपशान्त की जाती हैं। मोहिनीय कर्म के उपशमन के कारण ही जीव को सम्यक्त्व भी प्राप्त होता है और चारित्र भी। ठेठ ग्यारहवें गुणस्थान का चारित्र औपशमिक भाव में प्राप्त हो जाता है। ग्यारहवें गुणस्थान को मोक्ष का द्वार माना गया है। उपशम भावी आत्मा मुक्तिद्वार को खटखटाता है, खुलवाने के लिए, किन्तु जितने समय में द्वार खुले उससे पूर्व ही वह नीचे गिर जाता है। उसका नाम 'औपशमिक भाव' ही इस स्थिति का द्योतक है। सब कुछ दबाया हुआ था। दबाए हुए कर्म तो कभी न कभी उफान में आकर ही रहते हैं। दबाने की इस प्रक्रिया से आत्मा लाभान्वित तो अवश्य होता है किन्तु इस लाभ में स्थायित्व नहीं रहता। या दूसरे शब्दों में आत्मा अधिक समय तक एक-सा शक्तिमान बना नहीं रह सकता। यदा-कदा उसको हानि का भाजन बनना ही पड़ता है।

जिस प्रकार उसने मोहनीय कर्म का उपशम किया था, उसी प्रकार यदि वह उस कर्म का क्षय कर देता तो उसको क्षायिक-लाभ प्राप्त हो जाता जिसमें स्थायित्व की सत्ता रहती है। औपशमिक के समान इसमें अस्थायित्व की गुंजाइश नहीं रहती। केवल-ज्ञान और केवल दर्शन, ये सारे क्षायिक भाव के अन्तर्गत आते हैं। सिद्ध अवस्था भी क्षायिक भाव में है। क्षायिक भाव का अर्थ ही यह है कि जिस कर्म समूह का क्षय कर दिया गया उसके पुनः उभरने की शक्ति समाप्त हो गई और कर्मक्षय से जो भी आत्मा को लाभ प्राप्त हुआ उसके

भी केवल ज्ञानी, केवल दर्शनी हैं वे सब के सब एक समान हैं। मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन:पर्यवज्ञानी एक समान नहीं हैं। इनके तो भेद हैं— किसी के दो तो किसी के दो से अधिक। केवल ज्ञानी और केवल ज्ञानी में कोई भेद नहीं होता, हजारों की संख्या में हो तो भी भेद नहीं होता। जिसको केवलज्ञान आज प्राप्त हुआ है, जिसको हजारों वर्ष पूर्व प्राप्त हुआ था या आगे होगा— सब समान होते हैं। केवल ज्ञान कभी पुराना नहीं पड़ता। अरिहंतों का, सिद्धों का, स्त्रियों का और पुरुषों का सबका केवल ज्ञान समान होता है। केवल ज्ञान तब होता है जब केवल ज्ञान का अवरोधक कर्म क्षय हो गया हो, और आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध पूर्णरूपेण मिट गया हो। केवल ज्ञान की दशा में

की दृढ़ धारणा के पश्चात् जो व्यक्ति तपश्चर्या करता है, सम्यक्त्व धारण करके अनादिकालीन मिथ्यात्व का त्याग करता है, जितनी इच्छाएँ हैं, लालसाएँ हैं, महा-आरंभ, महापरिग्रह—सब का त्याग कर देता है वही अपने संचित कर्मों का क्षय कर सकता है। संचित कर्मों के क्षय के पश्चात् आत्मा का अपना शुद्ध स्वरूप निखर आता है। आत्मा का यह शुद्ध स्वरूप ही परमात्म पद को प्राप्त करता है। जो आत्मा था वह परमात्मा बन जाता है। परमात्मा बनते ही शाश्वत सुखों का साम्राज्य आरंभ हो जाता है।

जैन-भवन, डेह (नागौर)	१० अगस्त, १९७९

□□

साँच को आँच नहीं

सम्यक्त्व की प्राप्ति के बिना संसार में सुख की आशा नहीं करनी चाहिए। सचाई और अच्छाई के सामञ्जस्य का नाम ही सम्यक्त्व है। जिस व्यक्ति का जीवन सत्य पर आधारित है, वह तो सुखी ही रहता है। तभी तो लोक में कहावत प्रचलित है कि 'सांच को आंच नहीं।' सांच को आंच आ भी कैसे सकती है? सांच तो ठोस है, निगोट है। यह तो पोल-पाल से रहित होता है। पोल तो असत्य में, झूठ में होती है। ठोस और घन पदार्थ आंच से आसानी से आक्रान्त नहीं हुआ करते। जो पोले, पोचे या कमजोर होते हैं उनको आग बड़ी सरलता से पकड़ लेती है। घास, तृण और कागज आदि ऐसे ही हल्के पदार्थ होते हैं जो आग की लपेट में तुरन्त आ जाते हैं। अग्नि की ज्वालाओं से एक क्षण में ही राख की ढेरी बन जाते हैं। लकड़ी जैसा ठोस पदार्थ न तो शीघ्र आग ही पकड़ता है और न हो जलकर तुरन्त राख ही बनता है। वह तो जल-कर भी ठोस कोयलों के रूप में रहता है। लकड़ी, तिनकों की अपेक्षा ठोस होती है। सब लकड़ियां भी एक सरीखी नहीं होतीं। कुछ अधिक ठोस होती हैं तो कुछ कम। गजसुकुमाल के स्तवन में आता है इसका प्रसंग :

"खेरां ना खीरा सिर धरिया ससरासो।
मुनि नजर न खण्डी मेटी मन नी झालो॥"

गजसुकुमाल मुनि पर खेर की लकड़ी के खीरे धरे गये थे। खेर की लकड़ी बड़ी दृढ़ और पक्की होती है। श्मशान भूमि में शवों को बड़ी पक्की लकड़ी से जलाया जाता है जिससे कि उसके खीरे जल्दी से बुझने न पायें। इससे शव का दाह पूरी तरह से हो जाता है, उसका अवशेष बचने नहीं पाता। खेर के समान और भी ऐसे पदार्थ हैं जो इतने ठोस और घन हैं कि जिनको जलाने के लिए अग्नि की अधिक मात्रा की आवश्यकता पड़ा करती है। अमुक-अमुक पदार्थों को जलाने और गलाने के लिए निश्चित डिग्री की हीट की अपेक्षा रहती है। लोहे की भट्ठियों, तांबे की भट्ठियों और सोने की भट्ठियों में धातुओं की शुद्धि निमित्त रजःकणों के पृथक्करण के लिए धातु को

या कोमल प्रकृति को ध्यान में रखकर छीट दी जाती है। ठोस पदार्थ के सामने तो कई बार आग स्वयं बुझ जाती है और उस पदार्थ का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। उदाहरण के लिए सीमेंट और कंकरीट के बने या पत्थर के बने फर्श पर आप जलता हुआ खीरा लाकर रख दें, वह ठोस फर्श का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगा और स्वयं बुझकर राख बन जायेगा। तो हमारा कहने का आशय यही है कि ठोस पदार्थ को आंच लगनी बड़ी कठिन है। संसार में सत्य से बढ़कर कोई ठोस तत्त्व या पदार्थ नहीं है।

ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि सत्य की शक्ति के सामने अन्य सभी शक्तियाँ कुंठित हो जाती हैं। उदाहरण के लिए क्रोध असत्य है और क्षमा की भावना सत्यपूर्ण है। जिसके पास क्षमा रूपी सत्य का शस्त्र है उसके सामने दुर्जन का क्रोध कुण्ठित हो जाता है। तभी तो किसी नीतिकार ने कहा है :

"क्षमा खड्गं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति ?"

जिस व्यक्ति ने क्षमारूपी तलवार को धारण कर रखा है उसके सामने दुर्जन का क्रोध क्या कर सकता है ? लोहे की तलवार को धारण करने वाला तो स्वयं अपना विनाश भी उसी तलवार से कर सकता है, किन्तु क्षमा की तलवार को धारण करने वाले को तो किसी भी प्रकार का खतरा नहीं। क्रोध से क्रोध टकराता है तो हानि होती है, जब क्रोध से क्षमा टकराती है तो क्रोध स्वयं शान्त हो जाता है। घास-फूस-विहीन स्थान में फेंकी हुई अग्नि स्वयं ही शान्त हो जाती है :

"अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति"

इसीलिए ज्ञानी पुरुषों ने कहा है कि सत्य के समक्ष सब शक्तियाँ सारहीन हो जाती हैं।

जैसा कि हमने पहले निर्देश किया है सम्यक्त्व में सचाई और अच्छाई दोनों का सामंजस्य है। हमारे मस्तिष्क में यदि सचाई होगी तो विश्व-भर में जितने भी पदार्थ हैं उनका वास्तविक स्वरूप हमको दृष्टिगोचर होगा। विश्व के पदार्थों की वास्तविकता का दर्शन मस्तिष्क की सचाई का ही परिणाम होता है। संसार के दृश्यमान पदार्थ विनाशशील हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी पदार्थ हैं जो विनाशशीलता की परिधि में न आकर स्थिर रहने वाले हैं। इस प्रकार सब पदार्थों का आन्तरिक रहस्य जानने और समझने से हमारे मस्तिष्क में सत्य की पुष्टि होती है। सत्य की पुष्टि होने के पश्चात् हमें न तो किसी भी पदार्थ पर क्रोध आयेगा, न ईर्ष्या होगी और न ही द्वेष की भावना जागृत होगी। इससे हमारे मन में स्थिरता आ जायेगी और हम स्थिरमति बन

नहीं करता। कोई इस प्रकार की शंका कर सकता है कि पानी को आग पर चढ़ाने से वह इतना भयानक रूप से उबलने लगता है कि यदि किसी पर उसका एक छींटा भी पड़ जाये तो चमड़ी जल जाती है और छाले उठ जाते हैं। उस समय कहाँ चला जाता है उसकी शीतलता का स्वभाव ? इस शंका का यही समाधान है कि जल तपकर और उबलकर भी अपने शीतलता के स्वभाव का त्याग नहीं करता है। उस उबलते हुए जल को यदि जलती हुई अग्नि पर डाल दिया जाये तो वह अपने शीतलता के गुण से उसको शान्त कर देता है, बुझा देता है। इससे स्पष्ट है कि पानी ने जलकर भी अपने शीतल स्वभाव को नहीं छोड़ा है। जलती अग्नि पर डाला गया खौलता हुआ पानी इस प्रकार पानी का ही काम करता है, घासलेट या पेट्रोल का नहीं। यह सब स्वभाव का ही चमत्कार है। इस संसार में जितनी भी वस्तुएँ हैं, उन सबका वास्तविक स्वरूप सम्यक्त्वी ही जानने में समर्थ हो सकता है। मिथ्यात्वी लोगों के लिए यह संभव नहीं है। इसका कारण है कि मिथ्यात्वी लोग शास्त्र-श्रवण और शास्त्र-वाचन से सदा वंचित रहते हैं। शास्त्रों में उनकी रुचि ही कहाँ होती है ?

हमारे शास्त्र तो सर्वज्ञों की वाणी है। जो संसार की सब बातों को जानने वाले हों, संसार की कोई भी बात जिनकी जानकारी से अछूती न रही हो, वे सर्वज्ञ कहलाते हैं। वे भूत, भविष्यत्, वर्तमान—तीनों कालों की बातों को जानने वाले होते हैं। ऐसे सर्वज्ञों की वाणी के बाहर दुनियाँ का कोई भी तत्त्व नहीं रहता। आपको संसार का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना हो तो आप शास्त्रों का अभ्यास करो, ज्ञान प्राप्त करो, उनका चिन्तन करो, मनन करो। जिन श्रावकों का मन दिन-रात सर्वज्ञों की वाणी में रमण करता रहता है, उनके प्रति अटूट श्रद्धा रखता है, उन सम्यक्त्वी पुरुषों में सचाई और अच्छाई दोनों बातें निवास करती हैं। ऐसा संसार का चिंतनशील व्यक्ति ही अपने स्वभाव को ऐसी स्थिरता प्रदान करता है जिसके परिणाम-स्वरूप उसमें यह भावना उत्पन्न होती है कि जब संसार के अन्य पदार्थ अपना स्वभाव नहीं छोड़ते तो मैं अपना स्वभाव क्यों छोड़ूँ ? संसार के सामान्य व्यक्तियों की तो बात ही क्या है यदि स्वयं देवता भी आ जाये तो भी उसको उसके स्वभाव से विचलित नहीं कर सकते। देव, दानव, मानव—कोई भी उनके मन के सुमेरु को नहीं डिगा सकता। इसका मुख्य कारण यही है कि उनका जीवन सत्य पर आधारित होता है। सभी वस्तुओं का ज्ञान उनको पहले ही हो जाता है। इसलिए उनको आँच नहीं आती। साँच को आँच कैसे लग सकती है ? ज्ञानी पुरुष बार-बार यह कह रहे हैं कि मनुष्यों को ज्ञान की प्राप्ति करनी चाहिए और ज्ञान के माध्यम से विश्व की वस्तुओं की वास्तविकता को समझना चाहिए। यह कहना कि इतने बड़े विश्व में असंख्य

वस्तुओं का बोध अकेला व्यक्ति कैसे कर सकता है—सारहीन है। विश्व के सभी पदार्थों का ज्ञान आपको एक वाक्य से कराया जा सकता है। वह वाक्य है: 'ससार के अन्दर सभी पदार्थों का अस्तित्व है।' वे सब पदार्थ क्या हैं और क्या नहीं हैं, इस बात को जानने से पूर्व दो बातें स्पष्ट जानने में आती हैं। वे है कि विश्व के सभी पदार्थ दो भागों में विभक्त हैं एक तो जड़, दूसरे चेतन। तीसरा कोई भाग नहीं है। जड़ और चेतन भागों में ससार के सब पदार्थों का समावेश हो जाता है। जड़ पदार्थों में भी –विनाशी और अविनाशी—ये दो तरह के पदार्थ है। जो नाशवान् हैं वे विनाशी कहलाते हैं और जो स्थिर रहनेवाले हैं वे नित्य या अविनाशी कहलाते हैं। जो भी पदार्थ हमारी इन्द्रियों के गोचर हैं, वे निश्चितरूप से नाशवान् हैं। दृश्यमान सभी पदार्थ नाशवान् होते हैं। जो कुछ भी दिखाई देता है वह वस्तु का स्थूल रूप होता है, स्थूल रूप का नाश अवश्यभावी होता है। स्थूल वस्तु का कुछ नाम अवश्य होता है, जिसका नाम होता है, वह वस्तु नाशवान् होती है। 'जेनु नाम तेनु नाश' यह कहावत भी प्रसिद्ध है। धूप और छाया आदि जो भी पदार्थ हमें दिखाई दे रहे हैं वे सब पदार्थ के स्थूल रूप ही हैं। पदार्थों का परमाणुओं के रूप में जो सूक्ष्मरूप है वह तो हमको दिखाई नहीं देता। परमाणु अविनाशी होते हैं। इस प्रकार जड़ पदार्थों में परमाणु नाशवान् नहीं होते। बाकी जो भी परमाणु के पिण्ड की बनावट है, परमाणुओं के स्कन्ध हैं जिनको हम देख रहे हैं उन सबका नाश हो जाता है। देवताओं के विमान, सुमेरु पर्वत आदि-आदि और भी जो वस्तुएँ शाश्वतिक हैं उनमें से भी पुराने परमाणु निकलते रहते हैं और नये परमाणु-पुद्गल जुड़ते रहते हैं। जैसे वे होते हैं वैसे सदा नहीं रहते। समय-समय पर उनकी पर्यायें परिवर्तित होती रहती है। हमारे शरीर की पर्यायें भी समय-समय पर पलटती रहती हैं। यहाँ इस बात का ध्यान रहे कि हमारी बदलने वाली पर्यायें विनाशोन्मुखी होती हैं, उनका विनाश किसी न किसी दिन अवश्यभावी होता है। शरीर की दृष्टि से शाश्वत पदार्थों की पर्यायें जो पलटती हैं वे वर्तमान की पर्याय से दूसरी पर्याय में जाकर दूसरे पुद्गलों की पूर्ति कर देती हैं। हम तो भरतक्षेत्र में रहते हैं, भरतक्षेत्र की कोई भी वस्तु शाश्वतिक नहीं है। इस प्रकार का सारा ज्ञान जिसका विवरण हमने ऊपर प्रस्तुत किया है, ज्ञानी पुरुषों के कथनानुसार, सम्यक्त्वी को होता है। सम्यक्त्वी ही ऐसा सोचा करता है कि, 'मैं तो ससार के उन पदार्थों में से हूँ जो अविनाशी हैं। मैं अविनाशी होकर क्यों किसी से राग-द्वेष करूँ? मैं अपने स्वभाव का त्याग क्यों करूँ? भले ही शरीर की दृष्टि से मैं विनाशी हूँ, किन्तु मैं वास्तव में शरीर तो नहीं हूँ, मैं तो आत्मा हूँ। आत्मिक दृष्टि से मैं अवि-

नाशी हूँ, इसलिए मेरा कभी नाश होने वाला नहीं है। निःसन्देह मैं अविनाशी पद अभी तक प्राप्त नहीं कर सका हूँ किन्तु उसके लिए मैं प्रयत्नशील हूँ। अविनाशी पद को प्राप्त करने हेतु मेरे लिए यह परमावश्यक है कि मैं अपने स्वभाव से कभी भी पतित न होऊँ। मुझे मेरे स्वभाव से विचलित करने वालों की संसार में कोई भी कमी नहीं है। शास्त्रों में यत्र-तत्र प्रसंग आते हैं कि प्राचीन समय में साधुओं को और श्रावकों को उनके धर्म से डिगाने के लिए अनेक शक्तियाँ आईं किन्तु जो डिगे नहीं, अविचल रहे वे संसार-सागर को पार कर गए।'

अरणक का नाम तो आपने सुना ही होगा। वे भगवान् मल्ली के शासनकाल के श्रावक थे। भगवान् मल्ली उन्नीसवें तीर्थंकर थे। अरणक श्रावक का जहाज अबाध गति से समुद्र पर चला जा रहा था। वह बड़ा प्रसिद्ध सार्थवाह माना जाता था अपने समय का। हज़ारों व्यापारी, भिन्न-भिन्न नगरों के, व्यापार-निमित्त उसके जहाज में विराजमान थे। सैकड़ों मुनीम और नौकर-चाकर सेवा के लिए जहाज में थे। बड़ा ही सम्पन्न सार्थवाह था अरणक। धर्म का आचरण जब भरे-पूरे सम्पन्न व्यक्ति करते हैं तो उनका बाहर के लोगों पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता है। अपने आत्मा का कल्याण तो वैसे सामान्य व्यक्ति भी कर ही लेते हैं किन्तु बड़े आदमी निज के आत्म-कल्याण के साथ अन्य भी अनेक लोगों को आत्मकल्याण के लिए प्रेरित कर देते हैं और प्रोत्साहन भी देते हैं। जब अरणक श्रावक का जहाज समुद्र में से गुज़र रहा था, उस समय देवलोक में इन्द्र ने अपने पास बैठे हुए देवताओं से कहा, "आज के दिन मनुष्यलोक में जैसा अरणक श्रावक अपने धर्म में दृढ़ है, वैसा दूसरा व्यक्ति मिलना कठिन है।" सुनने वाले देवताओं में से एक देव के मन में विचार आया, "अन्न का कीड़ा और मलमूत्र का पुतला मनुष्य क्या इतनी बात पर दृढ़ रह सकता है? मैं अभी जाकर उसको विचलित कर देता हूँ। वापिस आकर इन्द्र से कहूँगा कि तुम्हारे द्वारा प्रशंसित व्यक्ति की क्या दशा है।" वह भयंकर रूप बनाकर जहाज के पास आया। सात खण्ड का जहाज था वह। सबसे ऊपर की मंजिल पर अरणक बैठा था। नीचे के कुछ खण्डों में मालताल भरा था और कुछ में साथी व्यापारी भरे थे। यह जहाज इतना विशाल था कि अच्छा-खासा नगर-सा प्रतीत होता था। जहाज के पास खड़े एक विचित्र एवं भयानक व्यक्ति की ओर दृष्टि गई अरणक की। उस व्यक्ति ने अरणक से कहा, "अरणक! तू ऐसा कह दे कि तेरा धर्म खोटा है, खोटा कहकर इसका त्याग भी कर दे। ऐसा यदि तू नहीं करेगा तो तेरा जहाज मैं अभी समुद्र में गर्क कर दूंगा।"

"अरे भाई, यह भी कोई बात है? तुमको मेरा धर्म छुड़ाने से क्या मिल

तुम्हारा धर्म खोटा है।" देव ने पुनः सार्थवाह से आग्रह किया।

अरणक ने बड़ी दृढ़ता से उत्तर देते हुए कहा, "यदि मैं अपने धर्म को खोटा समझता तो इसको धारण ही क्यों करता? आप मेरे मुख से धर्म के विरुद्ध शब्द त्रिकाल में भी नहीं सुन सकते। मैं जिस धर्म को धारण कर रहा हूँ, उस धर्म को सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ। विश्व में धर्म की समानता करने वाली कोई भी वस्तु नहीं है। धर्म तो आत्मा को परमात्मा बनाने वाला तत्त्व है। धर्म की आराधना करने वाले जो व्यक्ति हैं उनके शरीर का एक-एक कण, जो अपवित्र है वह, पवित्र बन जाता है। तुम धर्म के महत्त्व को समझते नहीं हो। धार्मिक लोगों का तो पसीना भी औषधि का काम करता है। उनके तो पसीने के स्पर्श से भी अनेक रोग नष्ट हो जाते हैं। ऐसे धर्म को तू खोटा कह रहा है। मुझे तो तेरी धारणा पर आश्चर्य हो रहा है।"

सेठ की बात को सुनकर हजारों जहाजयात्रियों ने पुनः एकस्वर में सेठ से कहा, "सेठ साहब! आप हमारी सबकी जान को खतरे में क्यों डाल रहे हो? आप अपनी जिद्द को छोड़ दो, अन्यथा हम सब मौत के ग्रास बन जायेंगे। कहने मात्र से तो धर्म को कोई धक्का लगने वाला नहीं है। आप अपने मन से धर्म को जैसा चाहो समझो। केवल आपकी जबान से हम सबके प्राण बच जायेंगे। और आप पाप के भागी नहीं बनेंगे, अन्यथा हमारी हत्या का पाप आपको लगेगा।"

अरणक ने सबको समझाते हुए कहा, "मैं पाप का भागी बनने वाला नही हूँ। पाप उसको लगता है जो किसी को मारता है। जो किसी को मारता नहीं है, उसको भला पाप कैसे लगेगा? यदि कोई अपनी बात को मनवाने के लिए बल का भी प्रयोग करेगा तो उसकी भी मैं परवाह करने वाला नहीं हूँ। अच्छे कर्मों से डिगाने वालों की संसार में कोई भी कमी नहीं है। यदि मनुष्य डिगाने वालों से भयग्रस्त होता रहेगा तब तो वह कभी भी धर्म का आराधन कर ही नहीं सकता। पाप का भागी तो हिंसा की भावना वाला होता है। जो मन से, वाणी से और कर्म से किसी का बुरा सोचता ही नहीं है, उसको किसी प्रकार का पाप स्पर्श नहीं कर सकता। यदि किसी के आयुष्य का अन्त ही आ जाये तो उसको तो कोई बचा भी नहीं सकता। यदि इस प्राणी के द्वारा ही तुम्हारी जीवन-लीला समाप्त होनी है, तो उसको मैं तो क्या कोई भी टाल नहीं सकता। मैं तो टालने वाला नहीं हूँ, मेरी स्वयं की भी मृत्यु तुम्हारे साथ ही हो जायेगी। यदि तुम्हारी और हमारी मृत्यु का योग नहीं है, तो यह क्या इसकी सात पीढ़ी भी उठकर आ जाये तो हमारे में से किसी का भी बाल बांका नहीं कर सकती। तुम सब निश्चिन्त रहो और सर्वज्ञ पर भरोसा रखो, सब ठीक हो जायेगा। आपत्तिकाल में प्रभु का चिन्तन, साहस और सहनशीलता रक्षा करते

है।"

इस प्रकार मौत के कगार पर खड़ा होने पर भी अरणक सार्थवाह के मन में या आत्मप्रदेश में धर्म के प्रति तनिक भी शिथिलता नही आयी। परिणामस्वरूप देवता अरणक के सामने घुटने टेक देता है, और जहाज को स्थिर कर देता है। अपने वास्तविक रूप को प्रकट करके देवता ने अरणक के चरणो में प्रणाम किया और कहने लगा, "देवलोक मे इन्द्र महाराज आपकी बड़ी प्रशंसा कर रहे थे, वास्तव में जैसी उन्होने प्रशंसा की थी आप उस प्रशंसा के पात्र है। मुझे तो किंचित् भी विश्वास नही था कि एक मनुष्य जाति का प्राणी भयानक भय के आने पर भी अपने धर्म में इतना अडिग रह सकता है जितने आप रहे हैं। मैने तो आपकी परीक्षा ली थी और आप उस परीक्षा मे सही उतरे।"

देवता की बात को सुनकर भी अरणक के मन में किसी प्रकार का अभिमान उत्पन्न नहीं हुआ। अभिमान सम्यक्त्वी को नही आया करता, कारण कि वह भलीभाँति जानता है कि ससार के सभी पदार्थ नाशवान् हैं। परिवार, धन, शरीर, रूप सभी तो नष्ट होने वाले हैं, मात्र एक आत्मा अविनाशी है जो अपने शुद्धस्वरूप मे अहंकारादि विकारो से सदा परे रहता है।

इस प्रकार सम्यक्त्वी व्यक्ति को जिसके मस्तिष्क मे सचाई और अच्छाई का सामंजस्य रहता है किसी भी प्रकार की जीवन मे आंच नही आती। 'साँच को आँच नही,' जो इस सत्यानुप्राणित सूत्र को अपने हृदय मे प्रतिष्ठित कर लेता है, उसकी यशोगाथा ससार मे सदा अमर रहती है।

जैन भवन, डेह (नागौर) ११ अगस्त, १९७६

३३

होनहार भी हितकर होती

शाश्वत सुखों की उपलब्धि सम्यक्त्वी ही कर सकता है, मिथ्यात्वी नहीं। जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है, सम्यक्त्व का अर्थ है-सचाई और अच्छाई। यदि कोई यह कहे कि जहाँ सचाई होती है वहाँ तो अच्छाई होती ही है, फिर एक सचाई से ही काम चल जाता, साथ में अच्छाई जोड़ने की क्या आवश्यकता थी। इसका उत्तर है कि एक से काम नहीं चल सकता। अकेली सचाई तो कभी-कभी व्यवहार में भी खरी नहीं उतरती। तभी तो नीतिकार कहते हैं :

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्"

अर्थात्—सत्य बोलो परन्तु प्रिय या मीठा सत्य बोलो। सुनने वाले को अच्छा लगे ऐसा ही बोलो। यह ऐकांतिक युक्ति भी निर्दोष नहीं है। यदि इसको माना जायेगा, तो कपट चलेगा, धोखा चलेगा संसार में। संसार को अच्छा क्या लगता है? हमारे गुरु महाराज फरमाया करते थे :

"साँच मिरचाँ कूड़ गूड़,
पइसो परमेसर लुगाई गुर।"

संसार में चार चीजें चलती हैं। सत्य तो सुनने वाले को मिरच के समान तीखा लगता है। सत्य बोलने से सुनने वाले नाराज़ हो जाते हैं। मारवाड़ी भाषा में कहावत है :

"साच केवे जणा माँ ही माथा में देवे"

कूड़ गुड़ के समान मीठा लगता है। कूड़ शब्द का अर्थ समझने योग्य है। सामान्य बोलचाल की भाषा में कूड़ झूठ को कहते हैं किन्तु यह उसका वास्तविक अर्थ नहीं है। कूड़ शब्द की निष्पत्ति संस्कृत के कूट शब्द से हुई है। कूट से ही कूटनीति शब्द भी बनता है। कूट शब्द का प्राकृत में कूड़ बनता है। प्रतिक्रमण में भी कूड़ शब्द आता है। "कूड़ा-तोल माप कीधा होय तो..." 'कूट

तुला मान'। तुला—यानी तोलना, मान यानी मापना। तोलना वजन के हिसाब से होता है और मापना लम्बाई के हिसाब से। इस प्रकार कूट शब्द का अर्थ हुआ नकली, असली नहीं। उत्तराध्ययन सूत्र में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है

पोल्ले व मुट्ठी जह से असारे,
अयन्तिए कूड-कहावणे वा।
राढामणी वेरुलियप्पगासे,
अमहग्घए होइ य जाणएसु॥

कोई व्यक्ति मुट्ठी बन्द करके रोते हुए बालक को फुसलाने के लिए कहता है "लो तुम्हें कुछ दूं।" मुट्ठी में तो कुछ भी नहीं होता किन्तु बालक सोचता है कि मुट्ठी में कुछ न कुछ वस्तु अवश्य है यदि मैं रोना बन्द कर दूंगा तो मुझे मिल जायेगी। बच्चा व्यक्ति की बात में आकर चुप हो जाता है। शास्त्रकार कहते हैं कि जिस प्रकार खाली मुट्ठी में कुछ भी सार नहीं है, असार है, लोक में कहावत भी प्रचलित है कि "बंधी मुट्ठी लाख की, खोल दी तो खाक की", और 'अयन्त्रित कूट कार्षापण' अर्थात् यंत्र के अन्दर नहीं गढ़ा हुआ सिक्का। यंत्र से अभिप्राय यहाँ टकसाल से है जहाँ सिक्कों का निर्माण हुआ करता है। ऐसा सिक्का जो वजन में और आकार में टकसाल के सिक्के जैसा हो किन्तु टकसाल में निर्मित न होते हुए भी बाजार में चल रहा हो, वह नकली सिक्का कहलाता है। इस सिक्के को कूट—अर्थात् नकली सिक्का कहते हैं।

'राढामणी वेरुलियप्पगासे' राढामणी काच के टुकड़े को कहते हैं। काच के टुकड़े को मणि का रूप दे दिया गया हो, वैडूर्यमणि का-सा ही जिसका रंग और प्रकाश हो, किन्तु :

की भी परवाह नहीं करते। धनार्जन करते समय अपने शरीर की भी सुध-बुध उनको नहीं होती। वे यही सोचा करते हैं कि क्या रखा है सगे-सम्बन्धियों में, पैसा पास होगा तो काम आयेगा, सगे-सम्बन्धी भी पैसे के यार हैं। बिना धन के मनुष्य को कौन पूछता है! अपने जीवन को बड़े से बड़े खतरे में डालकर वे धनार्जन किया करते हैं। बस, पास में पैसा होना चाहिए यही उनके जीवन का लक्ष्य होता है:

"पास में होगा नाणा,
तो परणीजेगा वींद काणा"
"पास होवेगा रोकड़ा,
तो परणीज जावेगा डोकरा"
"नहीं तो मुंह देखता रेवेला छोकरा"

और भी:

"रूपचन्द जी होवे पल्ले,
चारों दिशा में उणरी चल्ले"
"कने होवे चन्दगी, तो लोग बजावे वंदगी"

इन लोकोक्तियों में पैसे का कितना महत्त्व प्रकट किया गया है, आप स्वयं विचार सकते हैं। ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि पैसे को भी लोग परमेश्वर मानते हैं। चार बातों में से तीन की रूपरेखा तो आपके सामने प्रस्तुत कर दी गयी। अब चौथी बात है 'लुगाई गुर।' हम तो यह सोचा करते हैं कि आप हमारे चेले हैं, हम हैं आपके गुरु, किन्तु वास्तव में तो आपके गुरु आपकी लुगाइयाँ हैं। हम कोई आदेश दें तो, "बाप जी, कल-परसों करेंगे" और घर की गुरुणी आज्ञा दे दे तो काम शाम से पहले ही आपको करना पड़ता है, न करो तो शाम की रोटी नसीब होने की सम्भावना नहीं रहती।

हाँ, तो हमारी तो सम्यक्त्व की व्याख्या चल रही थी। हम बता रहे थे कि सचाई और अच्छाई का सामंजस्य ही सम्यक्त्व है। कोई भी सचाई जिसमें अच्छाई का अभाव है सम्यक्त्व की प्रतीक नहीं बन सकती। कोई अच्छाई जिसमें सचाई का अभाव है सम्यक्त्व नहीं बन सकती। यदि हम यह धारणा बना लें कि हमें तो सबको प्रसन्न रखना है, किसी का भी दिल नहीं दुखाना है तब तो हमें प्रसन्न रखने के लिए झूठी प्रशंसा करनी पड़ेगी। उस प्रशंसा में अच्छाई तो है परन्तु सचाई का अभाव है, इसलिए वहाँ सम्यक्त्व नहीं रह सकता। सम्यक्त्व के लिए तो जैसा पहले निर्देश किया जा चुका है, सचाई और अच्छाई दोनों अपेक्षित हैं। ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि जिन व्यक्तियों की भावना सच्ची है,

संसार की सभी वस्तुओं का जिनको वास्तविक ज्ञान हो गया है और संसार की वास्तविकता को जिन्होंने जान लिया है, वे कुछ भी काम करेंगे सब अच्छे ही होंगे।

एक निश्चित सिद्धान्त की धारणा जब मनुष्य बना लेता है कि जो होता है सब अच्छे के लिए ही होता है, तो जीवन में पश्चात्ताप का पात्र नहीं बनता। निःसन्देह यह सिद्धान्त बड़ा कठिन है, इसको जीवन में सरलता से उतारा नहीं जा सकता किन्तु है यह उपादेय सिद्धान्त। एक प्रसंग स्मरण हो आया है इस पर। एक राजा और उसका मंत्री अपनी सेना के साथ कहीं जा रहे थे। इन दोनों के पास अव्वली नस्ल के घोड़े थे। ज्यों खींचो त्यों दूर ही दूर निकल जाते थे। दोनों सेना से पिछड़ कर जंगल में अकेले रह गये। किसी शिकारी ने आहट पाकर कि कोई जंगली पशु होगा, तीर चला दिया उन पर। मंत्री बच गया और राजा की अंगुली कट गई। राजा पीड़ा से कराहने लगा तो मंत्री ने कहा, "राजन्! आप इतना दुःखी क्यों हो रहे हैं? जो होता है सब अच्छा ही होता है।" राजा को मंत्री की बात सुनकर बड़ा क्रोध आया और उसने कहा, "तुम कितनी नीच प्रकृति के प्राणी हो, मैं दुःख से व्याकुल हो रहा हूँ और तुम मेरे दुःख का अनुमोदन कर रहे हो। मुझे तुम्हारे जैसे मंत्री की आवश्यकता नहीं है, चले जाओ यहाँ से! मुझे पुनः मुँह नहीं दिखाना।" मंत्री चला गया। अब राजा सर्वथा अकेला रह गया। इधर-उधर भटकने लगा, कौन मार्ग बताने वाला था और कौन सुध-बुध लेने वाला था! अचानक ही कुछ लोगों के गिरोह से शब्द सुनाई दिये राजा को 'रुको- रुको।' इन लोगों ने राजा को आकर पकड़ लिया और बड़े प्रसन्न हुए मोटे-ताजे-सुन्दर-सुशील राजा के शरीर को देखकर। सबने एक स्वर में कहा, "बहुत अच्छा रहेगा यह बलिदान के लिए।" देव पर बलि चढ़ाने के लिए उसको मन्दिर में ले गये। बलिदान की विधि के अनुसार तो जिन पुरुषों को बलि चढ़ाया जाता है वह सर्वांग-पूर्ण होना चाहिए। उन्होंने राजा को नंगा करके उसके सारे अंगों को देखा तो अंगुली कटी पाई। पुजारी ने कहा, "इस नर की बलि नहीं चढ़ाई जा सकती, यह तो खण्डित-शरीर है, इसकी एक अंगुली कटी हुई है।" राजा को मुक्त कर दिया गया। अब राजा को मंत्री पर किये गये अपने क्रोध पर बड़ा ही पश्चात्ताप होने लगा। वह सोचने लगा, "मेरा सुयोग्य मंत्री ठीक ही तो कहता था कि जो कुछ होता है सब अच्छे के लिए ही होता है। यदि मेरी अंगुली न कटी होती तो मैं आज बलि चढ़ जाता, अकाल मृत्यु से अपने प्राण खो बैठता। अब मुझे अपने मंत्री की तलाश करनी चाहिए।" वह जंगल में मंत्री की खोज में निकला और अल्प समय में ही उसने मंत्री को खोज डाला। मंत्री की बुद्धि की सराहना की और उससे क्षमायाचना की। मंत्री ने कहा, "जो

तो अज्ञानियों द्वारा कोहिनूर हीरे की उपेक्षा क्यों होती ? हीरे के मूल्य को बढ़ाने वाला तो ज्ञान ही हुआ। तो सिद्ध यह हुआ कि कोहिनूर हीरा रत्न नहीं है, रत्न तो वास्तव में ज्ञान है। हमारा ज्ञान ही वास्तव में कोहिनूर हीरा है। वही सच्चा रत्न है। इस प्रकार संसार के रत्न, रत्न नहीं हैं, ये रत्न तो गुम हो सकते हैं, चोरी हो सकते हैं और लूटे जा सकते हैं किन्तु वास्तविक ज्ञान-रत्न को उक्त किसी भी प्रकार का भय नहीं है। इसके अतिरिक्त ज्ञान ही एक ऐसा तत्त्व है जिसके आधार पर हम सारे संसार को तोल सकते हैं और संसार के सब पदार्थों की वास्तविकता को समझ सकते हैं।

कोहिनूर उठाने वाले पारखी ने उस रत्न को उठा तो लिया कीमती जानकर किन्तु यदि उसके मन में अज्ञानवश सन्देह उत्पन्न हो जाये कि "पता नहीं कि वह सच्चा रत्न भी है या नहीं, कहीं नकली ही न हो और मैंने इसे असली समझ लिया हो !" ऐसी स्थिति में वह उसको फेंक भी सकता है। वह रत्न उसके पास तभी सुरक्षित रहेगा यदि उसके मन में कोहिनूर की महार्घता पर पूर्ण विश्वास होगा, पूर्ण श्रद्धा होगी। इसी का नाम है दर्शन। जिस दृष्टिकोण से पदार्थ को देखना चाहिए वह दृष्टिकोण यदि स्थिर रूप में बना रहे, कोई उसे विचलित न कर सके तभी वही दृढ़ श्रद्धा कहलाती है। इसी श्रद्धा का धनी प्राप्त हुए रत्न की रक्षा कर सकता है। वस्तु की प्राप्ति तो हो गई किन्तु उसकी सुरक्षा तो दर्शन से ही संभव है। विश्वास, प्रतीति और भरोसा उसके लिए अपेक्षित हैं। वस्तु की प्राप्ति और चीज़ है और उसकी सुरक्षा उससे भिन्न वस्तु है। रत्न के पारखी को रत्न का पूरा ज्ञान भी हो, रत्न की बहुमूल्यता पर भी पूर्ण विश्वास हो किन्तु यदि वह उस रत्न का उपयोग नहीं करता, शरीर पर उसको धारण नहीं करता और जो उसका उपयोग हो सकता है वह नहीं करता तो उस रत्न से उसको क्या लाभ ? ज्ञान और दर्शन का लाभ तो तभी प्राप्त होगा जब उनको जीवन में उतारा जायेगा। यह जीवन में उतारना ही चारित्र कहलाता है। तो हमारा कहने का अभिप्राय यही है कि संसार के बाकी सब रत्न झूठे हैं। सच्चे रत्न तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र हैं। इस रत्नत्रयी की प्राप्ति से जीव की जन्मजन्मान्तर की दरिद्रता समाप्त हो जाती है।

ये तीनों रत्न कई बार आकर चले भी जाते हैं इसलिए सम्यग् दृष्टि से विचार करते हुए जो कर्म, परीषह, उपसर्ग या अन्य कोई कष्ट तुरन्त आ जाता है तो उसे भोगकर क्षय कर देना चाहिए—यही बुद्धिमत्ता है। यह कर्म भोग भी एक प्रकार का आत्मा पर कर्ज़ा ही है जिसके चुकाने में ही लाभ भी है और शान्ति भी। साधुजन तो अशुभ कर्मों को उदय में ला-लाकर समभाव से भोगा करते हैं। उदीरणा शब्द इसी स्थिति के लिए प्रयोग में लाया जाता

है। वे अन्त के परमानन्द को आदि के उपभोगों से बेहतर समझा करते हैं। सामान्य लौकिक जीवन में भी लोग बुढ़ापे में सुख चाहते हैं। युवावस्था में शक्ति और सहनशीलता के कारण वे बड़े से बड़े दुःख का सामना करने में समर्थ होते हैं, इसलिए दुःख उसी समय भोगना पसन्द करते हैं। आदि के दुःख से अन्त का सुख अच्छा होता है। दुःख का पहले आना ही अच्छा होता है और सुख का अन्त में आना श्रेयस्कर होता है। ज्ञानीपुरुषों का यह कथन कि 'जो कुछ अपने-आप होता है वह शतप्रतिशत अच्छा होता है" सत्य है। जो व्यक्ति इस सत्य का पालन करता हुआ समभाव से रहता है उसको ऐहिक और पारलौकिक सुखों की प्राप्ति होती है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) — १२ अगस्त, १९७९

परतंत्रता ही बंधन है

शाश्वत सुखों की प्राप्ति करना जीव के लिए कोई सरल काम नहीं है। जब संसार के क्षणिक सुख भी बड़ी कठिनाई से मिल पाते हैं तो फिर शाश्वत सुखों की तो बात ही क्या है ? संसार के सुखों को प्राप्त करने के लिए भी जीव को भगीरथ प्रयत्न करना पड़ता है यद्यपि उनकी प्राप्ति कर्मों के अधीन होती हैं। शुभ कर्मों का उदय होने से ही सुखों की प्राप्ति होती है। अब प्रश्न हमारे सामने यह है कि क्या शुभकर्मों का उदय जीव के अपने हाथ की बात है ? शुभ कर्म तो वही उदय में आयेंगे जो पूर्व में बान्धे होंगे; जो बन्धा हुआ नहीं है वह उदय में भी नहीं आता।

कर्म बन्धने के पश्चात् आत्मा की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। जो व्यक्ति चोरी नहीं करता वह स्वतंत्र है, वह चाहे कहीं भी सोये, बैठे, उठे— उसको किसी भी प्रकार का भय नहीं होता। जब उसने चोरी कर ली तो उसकी दशा बदल जाती है। ठीक है, उसने चोरी अन्धकार में की जब कि उसको कोई देख नहीं रहा था किन्तु प्रातःकाल जब लोगों को पता चलता है चोरी का तब चोर की निन्दा होती है। चाहे वह चोरी करके कहीं भी देश-परदेश में चला जाये, वेश बदल ले, कुछ भी कर ले किन्तु खोज करने वाले तो उसको खोज ही निकालते हैं। पैरों के निशानों से, हाथों की अंगुलियों के निशानों से उसको खोज निकाला जाता है। देर हो सकती है खोजियों को खोज निकालने में। कई-कई चोर तो बीस-बीस वर्ष तक पकड़ में नहीं आते। ठीक है, रात्रि के अन्धकार में चोर को कोई देख नहीं सकता किन्तु चोर स्वयं तो अपने-आपको देखता है। जब तक चोर ने चोरी नहीं की थी या दूसरे शब्दों में जब तक वह चोर नहीं था तब तक वह स्वतंत्र था, निर्भीक था इसलिए जहाँ चाहे वहाँ आ-जा सकता था, उठ-बैठ सकता था किन्तु अब चोरी करने के पश्चात् उसकी सारी स्वतंत्र क्रियाएँ अवरुद्ध हो जाती हैं। वह जहाँ भी आता है, जाता है डरता रहता है, संदेह करता रहता है कि कहीं उसके पीछे कोई पुलिस का आदमी या गुप्तचर न लगा हो। चोरी के पाप के कारण

उसके चेहरे पर खतरा, भय और परेशानी के चिह्न स्पष्ट दिखाई देते हैं। उसका पीछा करने वाले पुलिस के लोग तुरन्त समझ जाते हैं कि यह कोई चोर है, अपराधी है अथवा खूनी है। वह पकड़ा जाता है। हमारा यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि जीव या आत्मा जब तक चोरी के कर्म से या पाप से मुक्त था तब तक स्वतन्त्र था और भारी के पापकर्म के पश्चात् वह अपने ही कर्म में बन्धकर परतन्त्र हो गया। कर्म में बन्धन के पश्चात् आत्मा की ऐसी दशा हो जाती है कि वह किंकर्तव्यविमूढ़ बन जाता है। इस किंकर्तव्यविमूढ़ता का कारण होता है उसकी परतन्त्रता। वह जिसके तन्त्र में होता है उसी के अनुरूप उसे चलना पड़ता है। जैसे कोई पशु डोरी से बन्धा हो, उसका स्वामी डोरी पकड़कर जिधर भी उसको ले जाना चाहे ले जाता है, पशु का कोई वश नहीं चलता। पशु की जिधर उसे ले जाया जा रहा है उधर न जाने की इच्छा भी हो तो भी उसकी इच्छा का कोई महत्त्व नहीं होता। वह पराधीन जो ठहरा। इसी प्रकार जो जीव कर्मों से बन्धा हुआ है वह परतन्त्र होता है। यदि उसने अशुभकर्म बान्ध रखे हैं तो शुभकर्मजन्य सांसारिक सुख उसको कैसे प्राप्त हो सकते हैं? अशुभ कर्मों का जब क्षय होगा या वे कमजोर पड़ जायेंगे और शुभ कर्मों का जब उदय आयेगा तभी कहीं सुखों की प्राप्ति हो सकेगी। आत्मस्वतन्त्रता को खोने के बाद, कर्मों के बन्धनों से आत्मा को क्षणिक सुख मिला करते हैं। कितनी विडम्बना है, आत्मा को अपने द्वारा किये गये कर्मों का फल भोगने में भी स्वतन्त्रता नहीं है। आत्मा ने शुभकर्म किये, सुकृत किये, पुण्योपार्जन किया—तब कहीं जाकर वह सांसारिक सुखों को भोगने का अधिकारी बना, वे सुख तो उसे मिलने ही चाहिए परन्तु पूर्व में बान्धे हुए अशुभकर्मों का उदय जब तक समाप्त नहीं होता, जब तक उसका भोग चालू है तब तक उसका पूर्वार्जित शुभ कर्मजन्य सुख आत्मा को प्राप्त नहीं हो सकता। यह विडम्बना नहीं तो क्या है कि स्वयं के अर्जित कर्मों का फल भोगने में भी जीव स्वतन्त्र नहीं है। यह सब होते हुए भी सांसारिक सुख भोगने की जीव की लालसा निरन्तर बनी रहती है। अशुभ कर्मों के परिणाम दुःख को कोई भी भोगना नहीं चाहता और पुण्यकर्म किये बिना ही फल सुख भोगने की लालसा रखता है। धर्माराधन के बिना ही सुख चाहता है और पाप करके भी उसके परिणाम-दुःख को भोगना नहीं चाहता। अपनी ही लापरवाही से यदि कोई रोग हो जाता है, तो औषधि सेवन करके उसे बीच में ही दबा देना चाहता है। महापराध करके, वकीलों को और जिलाधिकारियों को धन देकर, रिश्वत देकर न्यायालय के दण्ड से बचना चाहता है। जाने-अनजाने में यदि कोई अच्छा काम हो जाये तो उसके महान् फल की अपेक्षा रखता है। तभी तो किसी कवि ने कहा है :

बहने लगती है। परतंत्रता के मिटते ही अब स्वतंत्रता उसका अक्षय धन बन गया है। अब तो उसके पास आनन्द का अक्षय भण्डार है। परन्तु इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि इस अवस्था तक वही व्यक्ति पहुँच सकता है जिसको 'स्व' के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो गया हो। सचाई और अच्छाई का जिसमें सामंजस्य हो गया हो, दूसरे शब्दों में जो सम्यक्त्व का धनी बन गया हो।

जैन-भवन, डेह (नागौर) १३ अगस्त, १९७९

□
□□

३५

आत्म-विकास की पद्धति

शाश्वत सुखों की प्राप्ति आत्मा को उच्चतम स्थान पर पहुँचने से होती है। ऊँचा स्थान दो अपेक्षाओं से होता है : प्रथम क्षेत्र की अपेक्षा से होता है। क्षेत्र की अपेक्षा से आत्मा का ऊँचा होना कोई भी महत्त्व नहीं रखता। स्थान की अपेक्षा से तो यदि कौआ भी मन्दिर के कलश के ऊपर जाकर बैठ जाये तो क्या उसको मन्दिर में विराजमान प्रतिमा रूप भगवान् के समान आदर मिल सकता है ? ऊँचे बैठने मात्र से कुछ नहीं बनता। क्षेत्र की दृष्टि से आत्मा ऊपर से ऊपर जहाँ सिद्ध भगवान विराजमान है वहाँ पहुँच सकता है। यह कोई कल्पना मात्र नहीं है, वास्तव में सामान्य आत्मा की भी वहाँ तक पहुँच है। आत्मा के सिद्ध क्षेत्र में पहुँचने मात्र से कोई काम सिद्ध नहीं हो जाता। क्षेत्र की दृष्टि से जो आत्मा ऊँचे जाता है वह एकेन्द्रिय आत्मा जाता है। एकेन्द्रिय के अन्दर भी बादर नहीं किन्तु सूक्ष्म हो जाता है। सूक्ष्म पृथ्वी, सूक्ष्म अप्, सूक्ष्म तेजस्, सूक्ष्म वायु और सूक्ष्म वनस्पति—ये पाँच सूक्ष्म स्थावर हैं। ये सारे के सारे लोक में व्याप्त हैं। लोक का कोई भी भाग इनसे अछूता नहीं है। आपके और हमारे मध्य में जो खाली जगह दिखाई देती है, यह कल्पनामात्र है। वास्तव में खाली जगह कहाँ है ? सब ठसाठस भरी हुई है। जैसे काजल की कूंपली में काजल ठसाठस भरा होता है। ऐसे ही समूचे लोक में जीव ठसाठस भरे पड़े हैं। चाहे वे सूक्ष्म रूप में हों चाहे बादर रूप में। यह जो कभी-कभी पदार्थों पर लीलन या फूलन आप देखा करते हैं वह बादर वनस्पतिकाय है। जो सूक्ष्म है, वह तो दृष्टिगोचर भी नहीं होती किन्तु सर्वत्र भरी पड़ी है।

इसी प्रकार इस बात को कौन सत्य मानेगा कि आपके और हमारे बीच में जो अन्तराल है उसमें अग्नि है, किन्तु अग्नि की सत्ता सत्य है। यह जो समूचा लोक है उसके अमुक-अमुक स्थानों पर बादर अग्निकाय है। बादर अग्निकाय का यदि आपके और हमारे मध्य में अभाव होता तो माचिस की तीली की रगड़ से यहाँ अग्नि कैसे पैदा हो जाती ? अग्नि ने स्थूल रूप धारण कर लिया तो हमने देख लिया किन्तु जब वह सूक्ष्म रूप में थी तब हमें दिखाई नहीं देती

थी। दिखाई न देने का अर्थ यह कदापि नहीं था कि अग्नि का अभाव था। इस प्रकार जब बादर अग्निकाय है तो सूक्ष्म अग्निकाय सर्वत्र व्याप्त हो तो इसमें कोई आश्चर्य करने की बात नहीं है। इसीलिये ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि सूक्ष्म स्थावर सारे लोक में व्याप्त हैं। इस सूक्ष्म स्थावर के रूप में हमारी आत्मा लोक के ऊँचे से ऊँचे भाग में जाकर रही हुई है। एकेन्द्रिय की सूक्ष्म अवस्था के रूप में इसने पर्याप्त समय वहाँ बिताया है। अपनी अवस्था के अनुरूप इस आत्मा को वहाँ रहकर भी पुनः नीचे आना पड़ा। सिद्ध भगवान् के आत्मप्रदेशों वाले क्षेत्र में रहकर भी हमारी आत्मा को नीचे गिरना पड़ा। वहाँ रहकर भी यह मुक्त नहीं हो पाई। यदि कोई ऐसा प्रश्न करे कि आठ कर्मों को क्षय करने वाली मुक्तात्माओं के मध्य में रहकर भी स्थावर नीचे क्यों आ गये? तो इसका उत्तर है कि राजमहल के अन्दर सफाई करने वाले भी तो जाते हैं, नौकर-नौकरानियाँ, दास-दासियाँ सभी वही तो रहती हैं किन्तु राजा और रानियों के समान उनका अधिकाधिक जीवन थोड़े ही होता है। वे तो केवल जी-हजूरी और परिचर्या के लिए होते हैं राज परिवार के सदस्यों की।

तो हमारा जो प्रसंग चल रहा था वह यह था कि आत्मा क्षेत्र की अपेक्षा से सिद्ध शिला तक भी चला गया, वहाँ पर्याप्त समय तक रहा भी किन्तु उसका कुछ भी उद्धार नहीं हुआ, उसे अन्त में पुनः नीचे ही आना पड़ा। नीचे इस लिये आना पड़ा कि वह मात्र क्षेत्र की अपेक्षा से ऊँचा गया था। वास्तव में आत्मा का उद्धार तो तब संभव है जबकि वह गुणस्थानों की अपेक्षा से ऊँचा चढ़े। गुणस्थान की अपेक्षा से तो वह पहले गुणस्थान में ही था। सूक्ष्म एकेन्द्रिय का गुणस्थान तो पहला ही होता है। इस प्रकार पहले गुणस्थान में रहने वाला जीव नीचे से ऊपर तक भले ही कितनी बड़ी उड़ान क्यों न भर ले किन्तु उसका किसी भी प्रकार से विकास नहीं होता। स्थान की अपेक्षा से ऊपर जाना कोई भी महत्त्व नहीं रखता। शास्त्रकारों का कहना है कि आत्मिक उत्थान के लिए ऊपर चढ़ना हो तो अवस्था की दृष्टि से चढ़ना चाहिए। आत्मा जिस अवस्था में हो, उससे ऊँचा चढ़े। केवल पहले गुणस्थान में ही नीचे से ऊँचे चढ़ने की अनेक अवस्थाएँ हैं। पहले गुणस्थान में नीचे दर्जे का स्तर भी है और ऊँचे दर्जे का स्तर भी है। एक तो आत्मा पहले गुणस्थान के नीचे से नीचे स्तर पर था और अब पहले ही गुणस्थान के ऊपर से ऊपर स्तर की अवस्था में आ गया तो इसको आत्मा की उन्नति समझना चाहिए। इस प्रकार आत्मा ज्यों-ज्यों आगे के गुणस्थानों में चढ़ता है उसका महत्त्व बढ़ता जाता है।

मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान की मान्यता के अनुसार तो अच्छा बुरा प्रतीत होता है और बुरा अच्छा लगा करता है। अच्छा लगे चाहे बुरा लगे जो बात

कहने योग्य होती है उसे तो कहना ही पड़ता है। मिथ्या दृष्टि वाले व्यक्ति को यदि कोई आत्मोन्नति के लिए कहे तो वह बात अच्छी होती है और अच्छे के लिये ही कही जाती है। अच्छा व्यक्ति ही अच्छी बात कहा करता है। जैसे कि कोई अच्छा व्यक्ति किसी को कहे, "यह जितना राग-रंग है, भोग-विलास है, सब आत्मा के पतन के कारण है। भविष्य में भी इनके दुष्परिणाम स्वरूप आपत्ति उठानी पड़ सकती है। इसलिए इनका त्याग करो। यह त्याग और वैराग्य की बात आत्मा के लिए अच्छी है। यदि सुनने वाला इस बात को मान लेता है तो भविष्य में उसका आत्मा दुःख से बच सकता है। किन्तु सुनने वाला यदि मिथ्यादृष्टि है तो वह इस बात को अच्छी नहीं मानता और कहने वाले पर द्वेष की बुद्धि रखता है। वह तो अच्छी सम्मति देने वाले को अपने जीवन में हस्तक्षेप करने वाला समझता है। वह यह भी सोचने लगता है कि, "मैं संसार के कामकाज निःशंक होकर कर रहा था, जीवन का आनन्द लूट रहा था। इस व्यक्ति ने भविष्य का भय दिखाकर मेरे मन पर ऐसा प्रभाव डाला है कि अब किसी काम को करने में रुचि ही नहीं होती। किसी भी काम को करते समय मेरे मन में हिचकिचाहट-सी होने लगती है। सारा का सारा जीवन का आनंद किरकिरा कर दिया है इस व्यक्ति ने।" इस प्रकार मिथ्यादृष्टि पुरुष अच्छे को बुरा समझा करता है। इसके विपरीत जो बुरा व्यक्ति है, जो उसकी भावना के अनुसार बात करता है, उसकी हाँ में हाँ मिलाता है, वह उसको प्यारा लगता है। जो अच्छा है वह बुरा लगता है और जो बुरा है वह उसे अच्छा लगता है—यह एक विपरीत या विरुद्ध मान्यता हो गई इसीलिये यह मिथ्यादृष्टि है। पहले गुणस्थान का नाम है मिथ्यात्व गुणस्थान।

पहले जो अच्छे के प्रति द्वेष था और अच्छे की बात सुनते ही खलती थी, वह द्वेष भाव इसमें मन्द पड़ जाता है। बुरा तो उसको पहले भी अच्छा लगता था और अब भी अच्छा लगता है, अन्तर इतना आ गया है कि अब उसको अच्छा भी अच्छा लगने लगा है। वह सोचता है, "यह बेचारा अपनी बात कहता है, इसके पास जो है वही तो कहेगा। जो कहता है, ठीक ही कहता है।" अच्छा और बुरा दोनों को वह अच्छा समझने लग गया है। अच्छे के प्रति अब उसमें थोड़ा राग भी उत्पन्न हो गया है। अच्छी बातों के प्रति अब उसके मन में द्वेष की भावना नहीं रह गई है। अच्छी बात को सुनकर अब वह चिढ़ता भी नहीं है। वह यह भी सोचता है कि यह व्यक्ति तो सभी को यही बात कहता है, कोई भी इसका बुरा नहीं मानता तो मैं क्यों चिढ़ूँ। इस प्रकार अच्छे और बुरे दोनों को अच्छा समझना 'मिश्र गुणस्थान' कहलाता है। इस गुणस्थान के आने से उसकी अवस्था में परिवर्तन आ गया है। पहले वह जितना समय बुरे के साथ बुरी प्रवृत्तियों में व्यतीत करता

स्थिति में भी इलायची, सोंठ और लौंग डालकर जल को और पवित्र किया गया। फिर केवड़ा और गुलाव जल डालकर उसको सुगन्धित वनाया गया। इस सारी प्रक्रिया के पश्चात् प्रधानमंत्री ने उस जल का आचमन किया। वह जल अत्यन्त सुगन्धित, सुस्वादु और हल्का वन गया था। तव प्रधानमंत्री ने राजा को अपने घर पर निमंत्रित किया भोजन के लिए। व्यक्तिगत रूप से प्रार्थना की दरवार से, "अन्नदाता ! कभी-कभी तो हमारे जैसे अनुयायी कर्मचारियों के घर का भी तो आतिथ्य स्वीकार करना चाहिए आपको।"

आग्रह करने पर राजा ने प्रधानमंत्री का निमंत्रण स्वीकार कर लिया। पधार गये प्रधानमंत्री के घर दरवार साहव। वड़े मनुहारों के साथ उनको भोजन कराया जाने लगा। राजा जव भोजन से पूर्णरूपेण तृप्त हो गये तो एक जल का गिलास सामने रखा। इतना सुगंधित, सुस्वादु और हल्का कि दरवार का खाया-पिया सव हजम हो गया। पेट पूर्णतया हल्का अनुभव किया दरवार ने जल पीते ही। इस जल ने राजा पर जादू-सा कर दिया। दरवार ने पूछा मंत्री से, "तुम सदा ऐसा पानी पीते हो, किस कुए का पानी है, यहाँ हमें तो ऐसा पानी कभी भी सुलभ नहीं होता ? हमारे यहाँ का तो पानी भारी है, यह पानी तो इतना पाचक है कि जो कुछ खाया या सव भस्म हो गया और अव पुनः खाने की रुचि जागृत हो गई है।"

"अन्नदाता, यह वड़ा ही कीमती पानी है। इसका जलाशय, तालाव वगैरह सव अलग ही प्रकार के हैं।" राजा ने वीच में ही मंत्री की वात को भंग करते हुए कहा, "छोड़ो इन वातों को। तुम जैसा पानी प्रतिदिन पीते हो वैसा हमको तो कभी नसीव ही नहीं हुआ। जितना खर्चा लगे, खजाने से निकलवा लेना, मुझे तो प्रतिदिन ऐसा ही पानी सुलभ होना चाहिये। अव तक तो मुझे ज्ञान नहीं था कि ऐसा पाचक पानी भी है संसार में। आज पीया है तो पता चला है। अव तो दूसरा पानी अच्छा भी नहीं लगेगा। जैसे भी हो सके मेरे लिये ऐसे ही पानी की व्यवस्था करो।"

प्रधानमंत्री को राजा की वात सुनकर हँसी आ गई। राजा ने हँसी का कारण पूछा तो प्रधानमंत्री ने कहा, "अन्नदाता ! यह पानी वड़ा ही स्वच्छ, शीतल, सुगन्धित और पाचक है। आपके द्वारा इसकी प्रशंसा सुनकर मुझे हँसी आ गई।"

"प्रशंसा सुनकर भला हँसी आने की क्या वात थी ?" राजा ने वड़ी उत्कंठा से पूछा।

"हजूर ! यह पानी उसी खाई का है जिसके प्रान्त भाग में पहुँचकर आपने और प्रजाजनों ने दुर्गन्ध के कारण नाक वन्द कर ली थी और मेरी हँसी उड़ाते हुए मुझे पीनस का रोगी वताया था।" मंत्री ने वड़ी शालीनता से राजा को

उत्तर दिया।

"यह बात सर्वथा असंभव है। मैं इसे कभी नहीं मान सकता।" राजा ने मंत्री की बात का प्रत्याख्यान किया।

"हम आपके सामने जलशोधन की सारी प्रक्रिया करके दिखा देंगे, तब तो आप मानेंगे ?"

मंत्री ने राजा को विश्वास दिलाते हुए कहा।

राजा ने स्वीकृति दे दी। जैसा का जैसा जलशोधन का प्रयोग प्रधानमंत्री ने अपने घर पर किया था वैसा का वैसा राजमहल में राजा के सामने करके बता दिया। राजा ने जब वह शुद्ध पानी पिया तो उसको विश्वास हो गया। मंत्री से पूछा, "आपने यह विद्या कहाँ से सीखी ?" इसके उत्तर में प्रधानमंत्री ने कहा, "हुजूर ! यह तो एक सामान्य बात थी, आपको इस पर आश्चर्य नहीं करना चाहिये। हमारे सर्वज्ञों के सिद्धान्तों में आता है कि विश्व में पुद्गलों का परिवर्तित होने का और परिणमित होने का स्वभाव होता है। कल शाम को हमने बहुत बढ़िया से बढ़िया भोजन खाया था। भोजन में दाल का सीरा, खीर, पिश्ता की पक्कियाँ, बादाम का हलवा आदि-आदि अनेक प्रकार के स्वादिष्ट और सुगन्धित पदार्थ थे। वे सारे पदार्थ हमारे पेट में जाकर रात-भर में सड़ गये और दुर्गन्धित हो गये। जब शुभ पुद्गलों का अशुभ पुद्गलों के रूप में परिणमन हो सकता है तो अशुभ पुद्गलों का भी शुभ के रूप में परिणमन हो सकता है। यह तो प्रतिदिन के अनुभव की बात है कि रात तो पड़ती है किन्तु वह निरन्तर तो नहीं रहती, इसी प्रकार दिन आता है तो वह भी सदा स्थायी रूप से नहीं रहता। रात और दिन दोनों का स्वाभाविक चक्र चलता रहता है। ठीक इसी प्रकार पुद्गलों का स्वभाव भी परिवर्तनशील है। पेट में रखे पदार्थ के अतिरिक्त आप किसी सुगन्धित खाद्य पदार्थ को एक कटोरदान में ही बन्द करके रख दो, सात दिन के बाद ढक्कन खोलो तो आप वहाँ दुर्गंध पाओगे। यह दुर्गन्ध कहीं बाहर से नहीं आती, यह तो पदार्थ में ही अन्तर्निहित होती है। पदार्थ की ताजगी के समय वह दबी रहती है, गौणरूप में होती है, ताजगी समाप्त होते ही दुर्गंध मुख्य रूप धारण कर लेती है।"

राजा के मन में इस सिद्धान्त ने घर कर लिया और उसने प्रधानमंत्री से पूछा : "आपने यह सिद्धान्त किससे सीखा जरा और विस्तार से इस पर प्रकाश डालिये।"

प्रधानमंत्री ने राजा को समग्र सिद्धान्त विस्तार से समझाया और यह भी बताया कि इसका विस्तृत विवेचन हमारे आगमों में आता है। राजा मंत्री

१. ‐बड़ा प्रभावित हुआ और श्रावक के व्रतों को ग्रहण
गया। अच्छे श्रावक ऐसे-ऐसे महान् कार्य कर देते

हैं। अब वह राजा प्रधानमंत्री का शिष्य बन गया था। साधुओं के द्वारा श्रावक बनाना कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं है जबकि कई श्रावक भी ऐसी धार्मिक बुद्धि के धनी होते हैं कि वे बड़े राजाओं तक को श्रावक बना डालते हैं। जिस काम को एक साधु अपने पूरे जीवन में नहीं कर सका उस महान् कार्य को जम्बुकुमार ने एक रात्रि में कर डाला था। गृहस्थ ही तो था उस समय वह, किसी धर्मस्थानक में तो नहीं बैठा था। वह तो भोग-भवन की चित्रशालिका में विराजमान था। सर्वत्र विलास और रंगमंगल का वातावरण था। उसने एक रात्रि में ही पाँच सौ सत्ताईस जनों को प्रतिबुद्ध व विरक्त कर दिया। ऐसी वैराग्य की भावना जागृत कर दी उन सबमें कि सबने दीक्षा ग्रहण कर ली। ऐसे होते थे प्राचीनकाल में श्रावक जो दूसरों को भी पक्का कर देते थे। आज खुद की ही सुध-बुध नहीं है।

सारांश यह है कि अवस्था व स्तर की अपेक्षा से आत्मा जो उन्नति करता है, वही वास्तविक उन्नति होती है। उन्नत होने के पश्चात् भी कई आत्माएँ असावधानी से पुनः पतित हो जाती हैं किन्तु जो सम्यक्त्व में आकर स्थिर, दृढ़ व अटल हो जाती हैं उन पर किसी भी वाह्य पदार्थ का प्रभाव नहीं पड़ सकता। सम्यक्त्वी व्यक्ति बुरी से बुरी बात को भी अपने अन्दर अच्छे रूप में परिणत करने की शक्ति से सम्पन्न होता है। वह तो उपासक ही 'सच्चाई और अच्छाई' का होता है। 'आप भला तो जग भला' इस कहावत को वास्तव में वही चरितार्थ करता है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) १४ अगस्त, १९७९

धर्मक्रियाएँ और धर्मध्यान

दृढ़ सम्यक्त्व ही शाश्वत गुणों का जनक है। कल हमने ध्यान के विषय में प्रसंग आरम्भ किया था। ध्यान चार प्रकार का होता है (१) आर्तध्यान, (२) रौद्रध्यान, (३) धर्मध्यान और (४) शुक्ल ध्यान। इन चारों ध्यानों में से सन्त लोग धर्मध्यान का सन्देश आपको दिया करते हैं। सामान्य और विशेष सभी प्रसंगों पर वे आपको धर्मध्यान का उपदेश दिया करते हैं। वस्तुत धर्मध्यान का कोई खास प्रसंग नहीं कहा जा सकता। फिर भी व्यवहारत धर्मध्यान के कुछ खास प्रसंग हैं। चातुर्मास भी धर्मध्यान का खास प्रसंग है और उसके अतिरिक्त जब मुनिराज नगरों और देहातों में प्रवेश करते हैं वे भी धर्मध्यान के प्रसंग होते हैं। सन्तों के अभाव में भी अष्टमी, चतुर्दशी, पाक्षिक तिथि आदि बड़ी तिथियों के दिनों में भी लगनशील व्यक्ति अनेक प्रकार के त्याग और व्रत ग्रहण किया करते हैं। सामायिक और प्रतिक्रमण भी उन दिनों में विशेष रूप से करते हैं। पाँच तिथियां, बड़ी तिथियों के रूप में मानी जाती हैं—द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी। इन तिथियों में भी धर्मध्यान का विशेष महत्त्व और प्रसंग होता है। इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि इन तिथियों के अतिरिक्त धर्मध्यान का कोई महत्त्व ही नहीं है। असली बात तो यह है कि जिन व्यक्तियों में धर्म के प्रति प्रेम है, श्रद्धा है और लगन है वे तो प्रत्येक तिथि को ही यथाशक्ति, अष्टमी-चतुर्दशी की ही तरह धर्मध्यान करते हैं। विशेष प्रसंगों का संकेत तो उन व्यक्तियों के लिये किया जाता है जिनका धर्म के प्रति प्रेम शिथिल है। चार मास के चातुर्मास में क्या सब दिन एक सरीखे होते हैं? उत्तर 'नहीं' में है। कुछ दिन विशेष महत्त्वपूर्ण होते हैं। पर्युषणपर्व के आठ दिन वैसे ही तो हैं जिनमें संवत्सरी का महापर्व भी समाविष्ट है।

जब-जब धर्मध्यान की बात का प्रसंग आता है तब-तब लोग यही समझते हैं कि सामायिक करना, पौषध करना, उपवास, दया, आयंबिल करना, प्रतिक्रमण करना इसी का नाम धर्मध्यान है। वास्तव में ये धर्मध्यान नहीं हैं, ये तो धर्म-क्रियाएं हैं। या यों कहो कि ये धर्म के कार्य हैं। एक स्थान पर बैठ जाना, मल से

वोलना, खुले मुँह नहीं वोलना, कच्चे पानी का संस्पर्श नहीं करना, विजातीय का स्पर्श नहीं करना, सचित्त को न छूना—ये सारी की सारी धर्म की क्रियाएँ हैं। ऐसा करने से धर्म की आराधना होती है। धर्मक्रियाएँ और धर्मध्यान दोनों का पृथक् अस्तित्व है। लोग प्रायः कहा करते हैं, "कि हम तो निम्नकथित वातों को ही धर्मध्यान समझते आये हैं, जैसे गुरुमहाराज की तीन वार वन्दना की तो वे पहली वार फरमाते हैं 'दयापालो' दूसरी वार में कहते हैं 'धर्मध्यान करो' और तीसरी वार जव सुखसाता पूछी जाती है तो कहते हैं 'देव, गुरु और धर्म की कृपा से सव आनन्द ही आनन्द है।' इस प्रकार महाराज के धर्मध्यान करने के संदेश में हम तो इन्हीं क्रियाओं को समझते हैं।" इस प्रकार का समझना भ्रान्तिपूर्ण है। धर्मध्यान और धर्मक्रिया में तो वड़ा अन्तर है। हमें ज्ञात है कि धर्मक्रिया और धर्मध्यान में जो भी सरल मार्ग है, आप सव वही पसन्द करेंगे। तो सर्वप्रथम तो आप यह समझने का प्रयत्न करें कि धर्मक्रिया और धर्मध्यान में अन्तर क्या है ? धर्मक्रिया तो एक स्थान पर वैठकर भगवान् का नाम लेना, भजन स्मरण करना, सामायिक-प्रतिक्रमण करना, पौपध, दया, तपस्या आदि करना ये तो धर्म की क्रियाएँ हैं। अव धर्मध्यान के विपय में समझिये। धर्मध्यान में ध्यान शव्द वड़ा ही सारगर्भित है। सामान्य व्यवहार में भी हम कई वार कहा करते हैं 'किधर है ध्यान तुम्हारा,' कई वार पुकारने पर भी जव वह उत्तर नहीं देता तो और जोर से कहना पड़ता है कि 'अरे श्रीमान् जी, कहाँ खो रहे हो ?' इससे स्पष्ट है कि ध्यान अलग चीज है और क्रिया अलग। क्रिया तो देखी जा सकती है किन्तु ध्यान दिखाई नहीं देता। सामने वाला व्यक्ति क्या क्रिया कर रहा है, यह तो स्पष्ट दिखाई देता है किन्तु उसका ध्यान किधर जा रहा है और कहाँ केन्द्रित है इसका तो कुछ पता नहीं चलता। इस प्रकार क्रिया वहिरंग है और ध्यान अन्तरंग है। सामायिक, पौपध आदि धर्मकियाएँ हैं और समभाव के विचारों का चलना, साधुता का चिन्तन करना आदि धर्मध्यान हैं। आप क्रियाएँ तो करते हैं किन्तु आपका ध्यान भी क्रियाओं में केन्द्रित रहता है या नहीं यह वात सन्देहात्मक है। यदि हमारी क्रिया के साथ-साथ हमारा ध्यान भी उधर ही केन्द्रित हो जाये तो क्रिया में ध्यान का पुट लग जाने से ध्यान का सहयोग क्रिया को मिल जाता है। इससे क्रिया में दुगुना वल आ जाता है और क्रिया की शक्ति अधिक वलवती हो जाती है। क्रिया में शक्ति का समागम ध्यान से ही सम्भव है। अव आप भलीभांति समझ गये होंगे कि धर्मक्रिया और धर्मध्यान मे क्या अन्तर होता है।

अव प्रश्न है सरलता का, क्रिया सरल है अथवा ध्यान सरल है। दोनों का विवेचन आपके सामने कर दिया गया है। कार्यरूप से वाहर दीखने में आने वाला कुछ भी हो वह क्रिया कहलता है और मनन-चिन्तन के रूप में विचारों का प्रवाह ध्यान है। क्रिया समय पर आश्रित होती है। सामायिक के लिए आपको कम से

कम अड़तालीस मिनट का समय चाहिये, तभी आप सामायिक कर सकते हैं। प्रतिक्रमण के लिए उससे भी अधिक समय अपेक्षित है। दया, संवर, तप, माला, स्मरण आदि सभी क्रियाओं के लिए मर्यादित समय की आवश्यकता रहती है। बिना निश्चित समय के किसी भी धर्मक्रिया का करना सम्भव नहीं है। किन्तु ध्यान किसी निश्चित समय की माँग नहीं करता। मन में विचार करने में, चिन्तन करने में, ध्यान करने में आपको अलग समय की आवश्यकता नहीं रहती। आप किसी भी अवस्था में मार्ग में चलते हुए, दुकान पर बैठे हुए, माल तौलते हुए, खरीदते हुए, बेचते हुए, कुछ भी करते हुए धार्मिक विचार अपने मन में रख सकते हैं। धर्मध्यान कर सकते हैं, कोई समय का बन्धन धर्मध्यान के लिये नहीं है। अब आप स्वयं निर्णय ले सकते हैं कि क्रिया सरल है अथवा ध्यान सरल है। सब एकस्वर से यही कहेंगे कि धर्मध्यान सरल है और क्रिया कठिन है।

आज के व्याख्यान में धर्मध्यान का ही विश्लेषण मुझे करना है और इसकी सरलता पर प्रकाश डालना है। वर्षों से धर्म की क्रिया करते आये हैं, इसलिये सामायिक कैसे करना ? यह सब आपको ज्ञात है। सर्वप्रथम घर से चलकर स्थानक में आते हैं, मार्ग में जाने-अनजाने में हुई जीव-विराधना का ईर्यापथिक करना, इच्छा कारेण की पाटी बोलना, पापों की विशेष शुद्धि के लिये प्रतिक्रमण करना, उन महापुरुषों का जिन्होंने समता में धर्म बताया है और समता का क्रियात्मक रूप जिन्होंने अपने जीवन में उतारा है—उनकी स्तुति करना 'लोगस्स' के शब्दों में, सामायिक की प्रतिज्ञा ग्रहण करने के लिए, अमुक समय अठारह ही पापों से विलग रहने के लिये 'करेमि भंते' की पाटी बोलना (इसमें मन, वचन, काया से स्वयं पाप करने के एवं दूसरों से पाप करवाने के प्रत्याख्यान रहते हैं) अन्त में ली हुई प्रतिज्ञा पर मुहरछाप लगाने के लिये 'नमोत्थुणं' की पाटी से नमस्कार करना आदि-आदि धर्म की क्रियाओं से आपका भलीभाँति परिचय है।

सामायिक का चरम लक्ष्य सिद्ध-पद की प्राप्ति है। इस *परम लक्ष्य की पूर्ति* के लिये सामायिक में की जाने वाली धर्मक्रियाओं का जितना महत्त्व है, उससे कहीं अधिक धर्मध्यान व धर्मचिन्तन का महत्त्व है। लेकिन आपको तो ज्ञान ही नहीं कि धर्मध्यान कैसे किया जाता है। अपने विचारों में धर्मचिन्तन की रति कैसे रखी जाये ? शास्त्रों में चारों ही प्रकार के ध्यानों का विस्तृत विवेचन मिलता है। निर्जरातत्त्व के बारह भेद हैं : (१) अनशन, (२) ऊनोदरी, (३) भिक्षाचर्या, (४) रसपरित्याग, (५) कायक्लेश, (६) प्रतिसंलीनता, (७) प्रायश्चित्त, (८) विनय, (९) वैयावृत्य, (१०) स्वाध्याय, (११) ध्यान और (१२) व्युत्सर्ग। ध्यान निर्जरा तत्त्व का एक भेद है। बारह प्रकार के तपों का वर्णन निर्जरा तत्त्व में किया गया है जिसमें ध्यान का ग्यारवां स्थान या

भेद है। निर्जरा तत्व में केवल धर्मध्यान और शुक्लध्यान का ही वर्णन नहीं आया है किन्तु आर्तध्यान और रौद्र ध्यान का भी वहाँ वर्णन है। इसका कारण है कि आर्त और रौद्र ध्यान के द्वारा भी कर्मों की निर्जरा होती है। विना चाहते हुए भी जो आपत्ति आ जाती है एवं उस आपत्ति को सहन करते समय जो आर्तरौद्र ध्यान आता है, उस अवस्था में पूर्व के वँधे कर्म क्षय हो जाते हैं परन्तु नये कर्म भी वँध जाते हैं। इसके विपरीत धर्मध्यान और शुक्लध्यान में पूर्व-आवद्धकर्मों का मात्र क्षय ही क्षय होता है, नये कर्मों का वंध नहीं होता। इस प्रकार चारों ही ध्यान निर्जरा के कारण हैं। दो ध्यानों में पुराने कर्मों का क्षय और नये कर्मों का वंध साथ-साथ होता है, एवं शेप दो ध्यानों में कर्मों का केवल क्षय होता है, वंध नहीं होता। धर्मध्यान के विवेचन में शास्त्रकार फर-माते हैं कि चार प्रकार से धर्मध्यान होता है जिसमें पहला भेद है 'आज्ञाविचय'। जिनेन्द्र भगवान् ने हमें क्या आज्ञाएँ दे रखी हैं और अन्य सर्वज्ञों ने भी हमारे आत्मकल्याण के लिए कौन-कौन-सी आज्ञाएँ प्रदान की हैं, किन-किन वातों का विधान और किन-किन वातों का निपेध किया है—इस वात का वारंवार चिन्तन-मनन करना चाहिये। मनुष्य सदा यह सोचे, "मैं जो भी कार्य कर रहा हूँ वह भगवान की आज्ञा के अनुसार है या विरुद्ध है? जिस कार्य को करने में उद्यत हूँ उसका भगवान् ने विधान किया है या निपेध कर रखा है?" किसी भी कार्य को करते समय मन में इस प्रकार का विचार रहना चाहिये। यह तो आपके हाथ की वात है, आप वड़ी सरलता से इसे कर सकते हैं। शास्त्र में प्रधान रूप से यह वात कही गई है कि प्रत्येक कार्य करते समय केवल मन में यह विचार करते रहना चाहिये कि "मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ वह वीतराग की आज्ञानुसार है या नहीं?" आपको यदि वीतराग भगवान् की आज्ञा का ज्ञान न भी हो कि उनकी आज्ञा क्या है तो भी उक्त प्रकार का चिन्तन करने से अपने-आप आपको अन्दर से उत्तर मिल जायेगा। आत्मा स्वयं साक्षी दे देगा कि अमुक काम करना अच्छा है अथवा वुरा। आत्मा आपको स्वयं वता देगा जिस काम का परिणाम भविष्य में अच्छा नहीं है वह नहीं करना चाहिये। आपके आत्मा की आवाज़ ही भगवान् की आज्ञा का प्रतीक वन जायेगी। इसी प्रकार जिस काम का परिणाम भविष्य में अच्छा होगा उसको करने के लिए आपकी आत्मा प्रेरणा देगी, ऐसी आत्मा की आवाज़ को वीतराग भगवान् की आज्ञा का पालन समझ लेना चाहिये। मनुष्य अपने आत्मा की आवाज़ को सुने चाहे न सुने परन्तु आत्मा शुभ और अशुभ परिणाम की सूचना देता रहता है। यह तो आन्तरिक संसार है, ये सारी की सारी वातें आत्मचिन्तन से सम्वन्ध रखती हैं। जिस व्यक्ति का चिन्तन जितना ही निर्विकार एवं पवित्र होगा उतनी ही पवित्र आवाज़ का उसके आत्मा से आविर्भाव होगा। यदि किसी भी कार्य को करते समय

मन में प्रसन्नता है, तो समझ लेना चाहिये कि यह भगवान् की आज्ञा के अनुकूल है और यदि इसके विपरीत किसी कार्य को करते समय मन में ग्लानि है, दुःख है, सन्देह है, भय है तो समझ लेना चाहिये कि यहाँ भगवान् की आज्ञा नहीं है। ये विचार हैं धर्मध्यान से सम्बन्ध रखने वाले। ऐसे लोग जिनको शास्त्र-श्रवण का सुयोग नहीं मिल पाता और जो शास्त्र-ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ हैं उनको आत्मा के अन्दर से ही शुभाशुभ अनुभूति हो जाये—इसके लिए धर्मध्यान की परमावश्यकता है।

भगवान तो सब के हैं। भगवान् के ऊपर जो दावा करता है, उन पर जो अपना अधिकार जमाता है, उनकी अधिक भक्ति करने के कारण अथवा उनकी अधिक आज्ञा पालन करने के कारण— एक ओर तो ऐसा व्यक्ति है या भक्त है और दूसरी ओर वह व्यक्ति है जो न तो कभी भगवान् का भजन करता है, न उनकी आज्ञाओं का पालन करता है, न कभी उनकी प्रार्थना करता है और न ही उन पर अपना किसी प्रकार का अधिकार जमाता है—इन दोनों में से भगवान् को कौन-सा प्रिय होगा, पहला या दूसरा ? यदि पहला मानेंगे तब तो भक्तों की संख्या बहुत कम रह जायेगी क्योंकि अधिक संख्या वाले तो वे हैं जो भगवान् की अपेक्षा करते हैं। इससे तो भगवान् घाटे में रहेंगे। इसके अतिरिक्त यदि भक्ति, स्तुति अथवा आज्ञा-पालन को ही आधार मानकर यह निर्णय लिया जाये कि भगवान् तो भक्तों के ही हैं जैसा कि लोक में भगवान् के मुख से ये शब्द कहलाये गये हैं, 'हम भक्तन के भक्त हमारे' तब तो भगवान् के उपासक बहुत थोड़े मिलेंगे। भगवान् का कार्यक्षेत्र, उनका साम्राज्य और आधिपत्य बहुत कम लोगों पर रह जायेगा। इन सब बातों को और विरोधी तर्कों को देखते हुए हम तो यही कहेंगे कि भगवान् तो सबके हैं—भक्तों के भी और उनके भी जो उनके भक्त नहीं हैं। इस प्रकार सब उनके हैं, वे भी जो उनको भला-बुरा कहते हैं। भगवान् के घर कोई भेदभाव नहीं है। भगवान् तो अत्यन्त निर्मल आत्मा हैं। उनका ध्येय तो यही रहता है कि संसार के सभी प्राणियों का हित हो, सभी प्राणी सुखी रहें और सभी प्राणियों को आनन्द की प्राप्ति हो। वे तो किसी का भी अमंगल नहीं चाहते। ऐसे भगवान् की जो आज्ञा है उनका पालन हमें जीवन के प्रत्येक क्षण में करना चाहिये। यदि इस प्रकार के विचारों से हम सदा अनुप्राणित रहेंगे तो हमारी आत्मा में एक दिन स्वतः ज्ञान का प्रकाश हो जायेगा और हमको यह बोध हो जायेगा कि अमुक कार्य हमारे लिये और प्राणीमात्र के लिए लाभदायक है और परिणाम में सुखावह है। इसी तरह अमुक कार्य हमारे लिये भी बुरा है, अन्य प्राणियों के लिये भी अहितकर है और भविष्य में इसका परिणाम भी दुःखावह है। कई बार ऐसा भी होता है कि मनुष्य भविष्य की उपेक्षा कर देता है और वर्तमान को ही महत्त्व देकर चलता है। वह

सोचता है कि 'भविष्य में जो होना होगा होता रहेगा, वर्तमान का लाभ उठाना चाहिए।' कुछ लोग ऐसे भी हैं जो भूत और भविष्यत दोनों की उपेक्षा करते हैं; वे महत्त्व, मात्र वर्तमान को देते हैं। किसी कवि ने कहा भी है :

"गई वस्तु सोचे नहीं, आगम वांछा नांय।
वर्तमान वर्ते खरो, सो ज्ञानी जग मांय ॥"

इस पद्य के अनुसार तो भूत और भविष्यत् की तनिक भी परावाह न करके मनुष्य को वर्तमान की ही चिन्ता करनी चाहिये। यह ठीक नहीं है। लोगों ने उक्त पद्य का भावार्थ सही नहीं समझा है, उसका अर्थ अपने मतलव का कर डाला है। वास्तव में तो उसका अर्थ है कि वीती वात का ध्यान करके आर्तध्यान नहीं करना चाहिए, चिन्ता में नहीं डूवना चाहिए क्योंकि जो जैसा होना था वह तो हो चुका है, उसमें अव परिवर्तन सम्भव नहीं है। जव व्यर्थ का चिन्तन किया जाता है तो उसका बुरा प्रभाव आवश्यक चिन्तन पर पड़ता है, इसीलिये वीती वात की चिन्ता न करने का ज्ञानी पुरुषों ने उपदेश दिया है।

'आगम वांछा नाँय' का अर्थ है कि वहुत-से व्यक्ति शेखचिल्ली के दिमाग के होते हैं। वैठे-वैठे वेसिर-पैर के मनसूवे वाँधा करते हैं। 'आज हमने यह किया है, इसका फल भविष्य में यह निकलेगा, भविष्य में जो होने वाला है उसका परिणाम यह होगा, वह होगा।' इत्यादि-इत्यादि। ऐसे लोग वर्तमान के संरक्षण का तथा वर्तमान से लाभान्वित होने का प्रयत्न नहीं करते। केवल भविष्य के मनसूवों का महल खड़ा करने में डूवे रहते हैं। मारवाड़ी भाषा में एक उक्ति भी है :

"मारवाड़ मनसूवां डूवी पूर्व डूवी गानासूं।
खानदेश खाना सूं डूवी, दक्षिण डूवी दाना सूं ॥

इस प्रकार की भविष्य के लिए निरर्थक कल्पनाएँ करते रहने से और मनसूवों के पुल वाँधते रहने से मनुष्य वर्तमान में क्रियाशील नहीं वन सकता, वर्तमान में प्राप्त साधनों का सदुपयोग नहीं कर सकता। इसी आशय को ध्यान में रखकर ज्ञानी पुरुषों ने 'गई वात सोचे नहीं' की उक्ति प्रसारित की है। इस शिक्षा की गति सांसारिक कार्यों तक ही सीमित है। वाकी आत्मार्थी जो पुरुष होते हैं, धर्मध्यान करने वाले जो श्रावक होते हैं, वे तो जीवन के कदम-कदम पर यही सोचा करते है, "भूतकाल में हमने अनेक प्रकार के पापकर्म किये हैं, दुष्कर्म किये हैं, उन सवका हमको प्रायश्चित्त लेना है, आलोचना करना है। ऐसा करने से हमारी आत्मा निष्पाप, निष्कलंक एवं निर्मल वनेगी। भविष्य में वर्तमान के अन्दर किए जाने वाले किसी कार्य का हमें बुरा फल न भोगना पड़े, इसके लिये सँभल-सँभल कर चलना है।" धर्मध्यान का पहला ही भेद है

'आज्ञा विचय'। 'हर समय भगवत्-आज्ञा का विचार करते रहना' धर्मध्यान का लक्षण है।

आज के व्याख्यान में आपको यही बताया गया है कि धर्मक्रिया अलग है और धर्मध्यान अलग है। धर्मध्यान में हर व्यक्ति को जितनी स्वतन्त्रता है उतनी धर्म-क्रिया में नहीं है। धर्मध्यान के चार भेदों में से पहला भेद है 'आज्ञा विचय'। विस्तार से देखना हो तो 'ओववाइय' में देखा जा सकता है। सम्यक्त्व सहित बारह व्रत, श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ, पांच महाव्रत, भिक्षु की बारह प्रतिमाएँ, शुद्ध योग, शुद्ध ध्यान, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और छह काय की रक्षा आदि सब क्रियाएँ वही कर सकता है जो जीव वीतराग की आज्ञा का आराधक होगा। इसमें सम्यक्त्वी, श्रावक व साधु—तीनों की ऊँची से ऊँची क्रियाओं का समावेश हो जाता है। साधु की उत्कृष्ट क्रिया के रूप में बारह भिक्षु प्रतिमाएँ, श्रावक की उत्कृष्ट क्रिया में ग्यारह प्रतिमाएँ तथा सम्यक्त्वी की उत्कृष्ट क्रिया में क्षायिक सम्यक्त्व की आराधना—ये सारी की सारी क्रियाएँ भगवान् की आज्ञा ही समझनी चाहिये।

धर्मध्यान का दूसरा भेद है 'अपाय विचय'। इसका अभिप्राय है जीवन में होने वाले दुःख, कष्ट एवं विघ्नों पर विचार करना। वर्तमान में हमारे द्वारा ऐसी कौन-सी क्रियाएँ हो रही हैं जिनके परिणामस्वरूप भविष्य में हमें अनेक कष्टों का सामना करना पड़ सकता है। वर्तमान में अच्छे प्रतीत होने वाले कार्य की सामर्थ्य न भी हो तो भविष्य में होने वाली सामर्थ्य पर पूरा भरोसा रखना चाहिये। इस श्रद्धान से जब भी आत्मा विकसित होगा और आत्मबल जागृत होगा तो आत्मा को कृतकर्मों पर आक्रमण करने का अवसर मिलेगा। धर्मध्यान का यह दूसरा लक्षण है। 'भविष्य में मेरे कौन-कौन-से कार्य बुरे परिणाम के रूप में प्रकट होंगे एवं किन-किन कार्यों के फलस्वरूप मुझे दुःख झेलने पड़ेंगे' इस प्रकार का चिन्तन तो प्रत्येक व्यक्ति को सदा करते रहना चाहिये। बुरे काम करने बड़े आसान होते हैं किन्तु फल भोगते समय नानी याद आती है। इस भाव को किसी ने लोकोक्ति के रूप में व्यक्त भी किया है -

"पाप करतां सोहिलो,
भोगवतां दोहिलो।"

पाप करते हुए तो अच्छा लगता है किन्तु भोगते समय बड़ा दुःखी होना पड़ता है।

धर्मध्यान का तीसरा भेद है 'विपाक विचय'। किस कर्म का किस प्रकार का विपाक आयेगा इसको कहते हैं 'विपाक विचय'। जीव को दो प्रकार के विपाक आते हैं : सुख और दुःख। वि—अर्थात् विशेष रूप से पाक—पक जाने को ही विपाक कहते हैं। वि+पाक—अर्थात् विशेषरूप से पका फल। फल भी दो प्रकार के होते हैं—मीठे और कड़वे। कुछ फल तो जब पकते हैं, बड़े सुन्दर

को। श्रेणिक उसकी उपेक्षा को जानकर बोला "मुझे आपके साथ जाकर क्या करना है, आप जाइये।"

इन्द्र व्यापारी अपने घर आ गया। उसकी लड़की नन्दा बड़ी बुद्धिमती थी। उसने पूछा, "पिता जी! सदा तो आप समय पर आ जाया करते थे, आज विलम्ब से क्यों आये हैं?" "क्या बताऊँ बेटी, आज तो एक महामूर्ख से पाला पड़ गया था, बस इसी कारण देर हो गई।" पिता ने पुत्री को उत्तर दिया। "क्या मूर्खता दिखाई उसने?" पुत्री ने पुन: पिता से कौतूहलवश पूछा। "क्या बताऊँ, उसमें सारी बातें ही मूर्खता की थी। धूप में छाता समेटता था और छाया में तान लेता था, मार्ग में जूती हाथ में रखता था और पानी में पहन लेता था। ये सारी मूर्खता की ही तो बातें थीं।" पिता ने पुत्री के कौतूहल को शान्त करने का प्रयत्न करते हुए कहा, "पिता जी! ये तो सारी बातें उसकी बुद्धिमत्ता की प्रतीक हैं। वह जो वस्त्र पहने हुए था वे बहुत बढ़िया किस्म के होंगे, धूप में उनका कुछ भी नहीं बिगड़ता होगा किन्तु छाया में वृक्ष पर से पक्षियों के विष्ठा से खराब होने के डर के कारण वह छाता तान लेता होगा। मार्ग के काँटे और कंकरों को तो वह आँखों से देखकर चलता होगा किन्तु पैरों की कोमलता के कारण वह पानी में जूते इसलिये पहन लेता होगा कि कोई कंकर न चुभ जाये, कोई काँटा न लग जाये। पानी में पड़े कंकर-काटों को तो आँखे नहीं देख सकती इस कारण वह जूती का प्रयोग पानी में करता था। आपने बड़ी भारी भूल की कि ऐसे बुद्धिमान को साथ नहीं लाये।"

नन्दा ने बड़े निराशापूर्ण शब्दों में पिता से कहा। नन्दा की इच्छा थी कि ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति को तो घर बुलाना चाहिये। उसने अपनी दासी को इस काम के लिये कहा। दासी तो उस लड़के को जानती नहीं थी, फिर वह कैसे ला सकेगी उसको? नन्दा को बात सूझ गई। उसने दासी को सम्बोधन करते हुए कहा: "जाओ, तुम बाजार में जाओ, और दो चीजें लाओ, एक तो पिउ की प्यारी और दूसरी प्यारी की प्यारी।"

"जो कुछ आपने कहा, मैं कुछ भी नहीं समझी।" दासी ने नन्दा को कहा।

"समझने की कोई आवश्यकता नहीं है, जो व्यक्ति तुमको ये दो वस्तुएँ दिलवा दे उसको साथ ले आना। यहाँ आने के लिये भी स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहना है किन्तु संकेत से कहना है।" दासी ने स्वीकृति दी और चली गई।

दासी कुछ भी तो नहीं समझती थी, हर एक दुकानदार से कहने लगी, "पिउ की प्यारी दो, प्यारी की प्यारी दो।"

"अरे क्या बक रही है यह? पिउ की प्यारी अपने-अपने घरों में होंगी, यहां दुकान पर किस लिए आएँगी? प्यारी की प्यारी तो कुछ भी नहीं होती, हां प्यारी का प्यारा अवश्य होता है।" सब दुकानदार उसकी हंसी उड़ाने लगे।

एक दुकान पर श्रेणिक बैठा था। उसने दुकानदारों से कहा, "अरे तुम बेचारी की हंसी क्यों उड़ाते हो? जो यह मांगती है इसे दो।" "दें क्या? यह तो पिउ की प्यारी और प्यारी की प्यारी दो चीजें मांगती है, ये दो चीजें कुछ हो तो इसको दें।" दुकानदारों ने श्रेणिक को उत्तर दिया।

"ऐसी क्यों नहीं, पिउ की प्यारी होती है 'भांग' और प्यारी की प्यारी होती है 'मेहंदी'। तुम्हारी दुकानों में हो तो दे दो।" श्रेणिक ने कहा।

"अरे हाँ, यह बात तो ठीक लगती है," दुकानदारों ने कहा।

दासी ने उस लड़के को देख लिया और समझ गई कि हमारी बाईजी ने इसी लड़के को बुलाया है। दासी ने माल ले लिया और लड़के से कहा, "आपको हमारी बाईजी ने बुलाया है। हमारा घर का तो मैं आपको क्या बताऊँ,"

दासी ने एक हाथ तो अपने दाहिने कान पर लगाया और दांत दिखाकर चली गई। लोगों ने दासी के दांत दिखाने को पागलपन समझा किन्तु श्रेणिक उसके इशारे को समझ गया। वह दासी के इशारे से तुरन्त इस निर्णय पर पहुंच गया कि उसके घर के दाहिनी ओर दाड़िम का पेड़ है और यही उस घर की पहचान है। बुद्धिमानों के काम तो इशारों से ही चलते हैं। लाखों मनुष्यों के बीच में वे इशारों से चोट कर दिया करते हैं। लोगों को पता भी नहीं चल पाता।

"बाई जी, बाई जी! ये दोनों वस्तुएँ आ गई है।" दासी ने दोनों वस्तुओं को बाई जी को देते हुए कहा।

"कैसा है लड़का?" बाईजी ने पूछा।

"बहुत अच्छा है लड़का, भाग्यवान दीखता है।" दासी ने विश्वास दिलाते हुए उत्तर दिया।

"हां, घर पर आने का निमंत्रण दिया कि नहीं तुमने? क्या उसको इशारे से समझाया?"

बाई जी ने उत्कंठा से पूछा।

दासी ने स्वीकृति में उत्तर दिया। नन्दा को विश्वास हो गया वह अवश्यमेव आयेगा। उसने अपने द्वार से छह कदम पर दो तरह के मार्ग तैयार किये—एक पर तो पानी डाल दिया और कीचड़ ही कीचड़ हो गया। पानी भी इतना डाल दिया कि चलने वाला घुटनों तक धंस जाये। दूसरे मार्ग पर बालू-रेत मखमल की तरह बिछा दी। नन्दा स्वयं झरोखे में बैठ गई यह देखने के लिये कि वह किस प्रकार आता है?

संकेत के अनुसार श्रेणिक आया और दो रास्ते देखकर सोचने लगा, "यह जो बालू-रेत का रास्ता है इसमें तो पता नहीं चल सकता कि नीचे क्या है? हो सकता है नीचे गड्ढा हो और उसको बांस-फूस आदि बिछाकर ऊपर रेत से ढक दिया हो। इस पर से चलने से गिर कर हँसी का पात्र बनने की सम्भावना

है। इसलिये इस रास्ते पर से चलने के स्थान पर कीचड़ के मार्ग से चलना अच्छा रहेगा।" यह सोचकर वह कीचड़ के रास्ते से आया। अपने कपड़ों को ऊपर टाँक लिया वह कीचड़ में से अन्दर आया। नन्दा ऊपर से सब दृश्य देख रही थी, सोच रही थी,"यह युवक वास्तव में बुद्धिमान है, यह ऊपर के आकर्षण को देखकर ठगाने वाला नहीं है।" वह आया। चतुर तो वह था ही, आकर चबूतरे पर बैठ गया और इस आसन से बैठा कि सारा कीचड़ नीचे झड़ जाये और दूसरे स्थान पर कीचड़ का अंश न लगने पाये। इतने ही में दासी के हाथ से नन्दा ने छोटा-सा पानी का कलशिया भरकर भेज दिया और कहला दिया, पैर साफ धो लेना और पानी बचाना क्योंकि हमारे यहाँ पानी की कमी है।"यह तो चतुराई और बुद्धिमानी की परीक्षा थी, यहाँ रंग-रूप देखकर नम्बर नहीं दिये जा सकते थे। श्रेणिक ने पानी का कलशिया देखा और सोचा, "स्थिति बड़ी सारगर्भित है।" उसने इधर-उधर देखा तो एक बाँस की खापटिया, जो गड्ढे को ढकने वाली खापटियों से बच गयी थी, उठाया और उससे पैरों से लगा कीचड़ उतारने लगा। सारा कीचड़ ही उससे साफ कर दिया और जो शरीर पर सूख गया था उसको हाथों से मसल-मसल-कर उतार दिया। इसके पश्चात् चुल्लू में पानी लेकर दोनों पैरों को क्रमश: धो डाला। चुल्लू-भर पानी से ही हाथ भी धो डाले। इस प्रकार तीन-चार चुल्लू-भर पानी में ही सारा काम कर डाला। लोटे में पर्याप्त पानी बच गया। बिल्कुल अपटुडेट हो गया। इतने में दासी आ गई और उसे लोटा सम्भला दिया। कथानक लम्बा-चौड़ा है किसी अन्य प्रसंग पर आपको सुनाया जायेगा।

हमारा कहने का अभिप्राय यही है कि चातुर्य बड़ा ही उच्चकोटि का गुण है। बाहर के मैल को धो-धाकर हम अपने जीव को तसल्ली दे देते हैं कि हम निर्मल बन गये, स्वच्छ बन गये। और फिर ऐसे स्थान पर बैठना पसन्द करते है जहाँ पर हमारे ऊपर धूल न पड़ सके और हमारा शरीर पुन: गन्दा न हो सके। इस प्रकार की धारणा मिथ्या है। मैल बाहर से नहीं आता किन्तु अन्दर से आता है। शरीर के अन्दर क्या है, इस बात को बताने की जरूरत नहीं है। शरीर के अन्दर जो गन्दगी है उसी गन्दगी के कारण ही तो बाहर के संसार में गन्द फैला हुआ है। इस शरीर रूपी नगरी के नौ दरवाजे हैं, कुछ लोग दस दरवाजे भी मानते हैं। नौ दरवाजे मानने वाले सम्भवत: दसवें द्वार को बन्द मानते हैं।

यह दसवां द्वार है---मस्तिष्क, जिसे शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द में गगन-मंडल भी कहा गया है। सारे शरीर में सबसे ऊँचा और महत्त्वपूर्ण स्थान यही है। आंखें, नाक, कान आदि तो खुले दरवाजे हैं किन्तु गगनमंडल तो बन्द है। कुछ विद्वान् सूंडी (नाभि) को भी दसवां द्वार मानते है। सूंडी को ब्रह्मरंध्र भी कहा जाता है। सबके शरीर मे दस ही दरवाजे होते हैं, ऐसी भी बात नहीं है। किन्हीं के शरीरों में अधिक भी होते हैं। यह तो खुले दरवाजों की बात हुई। बाकी

शरीर से बाहर मैल निकालने वाले भी अनेक द्वार हैं जिनकी गणना नहीं की जा सकती।

हमारे शरीर से निकलने वाले मैल को बहुत-से लोग तो मैल के रूप में जानते ही नहीं हैं। ये शरीर पर के केश, रोम, नाखून आदि शरीर के अन्दर के मैल ही तो हैं। मैल होते हुए भी केशों को शरीर की शोभा माना जाता है। प्राचीन काल में लोग नाखूनों और केशों का नाश करवा दिया करते थे। आजकल की तो बात ही निराली है, केश तो बहुत बढ़ाते ही हैं किन्तु नाखूनों को भी बढ़ाना आरम्भ कर दिया है। नाखूनों का बढ़ाना भी शृंगार में गिना जाता है। हमारे शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम कूप हैं, गड्ढे हैं जिनमें एक-एक में से एक, किसी में दो और किसी में तीन-तीन तक केश निकल आते हैं। इन केशों के आधार पर भी शुभ-अशुभ भविष्य का कथन किया जाता है। जिसके रोमकूपम से तीन केश निकलें वह पुण्यशाली नहीं माना जाता। एक गड्ढे में से दो केश निकलें तो वह व्यक्ति मध्यम कोटि का होता है और एक में एक ही निकले तो उस व्यक्ति को उत्तम कोटि का और पुण्यवान् माना जाता है। मेरे कथन का संकेत तो यह था कि हमारे शरीर से निकलने वाला मल भी हमारी शोभा का कारण बन जाता है। आपने देखा ही होगा कि केशों को किस प्रकार अनेक रूपों में सिंगारा जाता है। वास्तव में तो केशों का शृंगार मनुष्यों के लिये नहीं है, वह तो स्त्रियों के हिस्से में आता है। यही कारण है कि भाइयों के केशों पर कतरनी नहीं चला करती। परन्तु आजकल तो सब कुछ होने लग गया है, स्त्रियाँ भी बाल कटाने लगी हैं और नवयुवक स्त्रियों के समान बाल बढ़ाने लगे हैं। दोनों की वेशभूषा ऐसी होती जा रही है कि कई बार तो यह पहचानना भी कठिन हो जाता है कि दृष्टिगोचर व्यक्ति स्त्री है या पुरुष है। अस्तु, यह जमाने की हवा है, सिनेमाओं का चमत्कार है जो कुछ लोग वहाँ देखकर आते हैं वही समाज में फैशन बन जाता है।

हमारे कहने का अभिप्राय तो यही था कि मनुष्य के शरीर के चर्म से मैल बाहर निकलने के अनेक स्थान हैं। चर्म में अनेक छिद्र हैं। यह शरीर की चमड़ी जाली के समान है। जिस प्रकार जाली में छेद ही छेद होते हैं, उसी प्रकार चमड़ी में भी छेद ही छेद हैं। उन्हीं छेदों में से तो हमें पसीना आया करता है। हथेली तक में पसीना आया करता है। हथेली के पसीने की बात भी सुना दें आपको। एक अत्यन्त लोभी सेठ थे। खर्च करने में वे कम ही विश्वास रखते थे। एक बार वे कलदार रुपया लेकर मालिन के यहाँ साग-पात खरीदने के लिये गये। मालिन कुछ दूरी पर बैठी थी। माल ले लिया, जब रुपया देने का समय आया तो मुट्ठी खोलकर देखा, रुपया रो रहा है। सेठ बोले : "ओ-हो-हो ! मालिन ! तुम अपना साग-पात अपने पास ही रखो, मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है, मेरा तो रुपया रो रहा है।"

मालिन ने कहा, "अरे सेठ जी ! रुपया भी रोया है कभी आज तक ?"

"तू स्वयं देख सकती है, आँसू वहा-वहाकर यह कितना गीला हो गया है, मेरा हाथ भी इसके आँसुओं से भीग गया है । यह रो-रोकर मुझसे कह रहा है कि 'आप तो मुझे इतने प्यार से सुरक्षित स्थान पर रखते थे, आज वाहर निकाल दिया है आपने, अव पता नहीं मेरी क्या दुर्दशा होगी?' जिस प्रकार ससुराल जाते समय लड़कियां रोया करती हैं, उसी तरह रो रहा है वेचारा यह। यह तो मेरे से दूर जाना ही नहीं चाहता। इसने तो मुझे भी रुला दिया है। मेरे मन में भी वड़ी ममता उमड़ पड़ी है, इस रुपये पर, "मैं तो इस रुपये को अपने से दूर नहीं जाने देता।" मालिन को समझाते हुए सेठ ने अपना रुपया अपने पाकेट में रख लिया।

कहने का आशय है कि जो पसीने के रूप में शरीर से मैल निकला करता है, वह वहीं रोमकूप में ही जम जाता है। उस जमे पसीने को साफ करने के लिये थोड़ा पानी काम में लेने से भी हो जाता है किन्तु उसके लिए वहुत अधिक परिमाण में पानी का उपयोग करने से हम अधिक निर्मल वन जायेंगे, इस प्रकार की धारणा या नियम सारहीन होते हैं। सर्वथा रहने वाली सफाई तव तक सम्भव नहीं जव तक शरीर के अंदर का मैल निकलना वन्द न हो जाये। जव तक शरीर में कोई न कोई पदार्थ पड़ता रहेगा तव तक उसका निकलना वन्द नहीं हो सकता। कहने का आशय है कि कच्चा पानी अधिक गिराना पाप का काम है, पापकर्म से शरीर-शुद्धि का प्रयत्न विडम्वना मात्र है। प्राचीन समय में जव पानी को अत्यन्त गहरे कुओं से निकाला जाता था तो पानी की वड़ी कदर होती थी। वड़ी समझ-वूझ से ही पानी का उपयोग किया जाता था। आजकल तो नल ही नल लग गये हैं। मनुष्य को जितनी अधिकाधिक सुविधाएँ मिलती जाती हैं उतना ही वह विवेकहीन वनता जा रहा है। उसके मन से पाप का भय भी निकलता जा रहा है ।

तो हम आपसे यही कह रहे थे जिस घर में, जिस समाज में और जिस धर्म में ज्ञान की चर्चा नहीं होती, ज्ञान और समझदारी का अभाव होता है वहाँ लोग तरह-तरह के पाप करते हैं, तरह-तरह के खोटे विचार मन में लाते हैं। उनके लिये तो यही कहा जा सकता है कि उन वेचारों को ज्ञान नहीं है । किन्तु जिन घरों में छह काय के जीवों का ज्ञान होते हुए भी जमींकंद और वनस्पति का अत्यधिक प्रयोग होता है, तो यह निश्चित ही जल में लाय लगने के समान आश्चर्यजनक वात है। विना जमींकंद के और वनस्पतियों के परिमित मात्रा में प्रयोग से भी जीवन का निर्वाह हो सकता है। ज्ञान के सद्भाव में भी जव अन्धा-धुन्ध वनस्पति और पानी का .प्रयोग किया जाता है तो वहुत वड़ी विवेकहीनता है। वनस्पतिकाय में अनन्तानन्त जीवों का विवरण हम पहले प्रस्तुत कर चुके हैं।

शास्त्रों का कथन है कि एक शरीर में एक जीव वाली वनस्पति को अपनी

खुराक बनाने वाला व्यक्ति उस व्यक्ति से अनन्त [illegible] हिंसा का भागी बनता है जो एक शरीर में अनन्त जीवों वाली वनस्पति का [illegible] है। दूसरे शब्दों में अनन्तकाय वनस्पति की खुराक वाले व्यक्ति को अनन्त जीवों की हिंसा लगती है। इसके अतिरिक्त, एक शरीर में एक जीव [illegible] पंचेन्द्रिय तक जितने भी जीव हैं उनकी जीवन-शक्ति [illegible] विकसित होती है इसलिये उनका अथवा [illegible] को उत्तरोत्तर महान् से महान् हिंसा का भागी बनना पड़ता है। कोई व्यक्ति यदि यह तर्क पेश करे कि "अनन्तजीवों वाली वनस्पति को न खाकर एक ही जीव वाले पंचेन्द्रिय को भोजन के रूप में काम में लेना [illegible] रहेगा?" इसका उत्तर यह है कि एक जीव वाला [illegible] बहुत पुण्यवान् होता है और उसकी पुण्यवानी उन अनन्त सूक्ष्म जीवों से अनन्त गुना अधिक होती है। इस कारण उस एक की हिंसा अधिकतम पड़ती है। व्यावहारिक जीवन में ही देख लीजिये, एक ओर तो किसी साधारण व्यक्ति की हत्या हो जाये और दूसरी ओर कोई राजा की हत्या कर दे। राजा में तो सारे देश की शक्ति निहित होती है, इसलिये उसके मरने से सारा देश अनाथ हो जाता है किन्तु सामान्य व्यक्ति का अभाव किसी को नहीं खलता जबकि राजा का सबको खलता है। यही कारण है कि पंचेन्द्रिय जीव की हत्या में महान् से महान् पाप शास्त्र ने बताया है। इसी प्रकार अनन्तकायिक वनस्पति को भी अपनी खुराक बनाने से प्रत्येक वनस्पति की अपेक्षा अधिक पाप लगता है। आचार्यों ने इसीलिये मध्यम मार्ग निकाला है। मध्यम मार्ग यही है कि प्रत्येक वनस्पति के प्रयोग में अधिक से अधिक मर्यादा रखनी चाहिये। मन पर नियन्त्रण रखने से परिमाण के नियम को सरलता से निभाया जा सकता है। किसी भी वस्तु का अधिकतम मात्रा में उपयोग तो वैसे भी व्यसन माना जाता है। बुद्धिमत्ता यही है कि जीवन में प्रत्येक पदार्थ का कम से कम उपयोग किया जावे एवं पापास्रव से अधिकाधिक बचने का प्रयत्न किया जावे। त्याग ही वास्तविक जीवन है।

जैन-भवन, हेड (नागौर)　　　　१८ अगस्त, १९७२

●●

धर्मध्यान और शाश्वत सुख

बहुत दिनों से हम शाश्वत सुखों को प्राप्त करने के उपाय बताते आ रहे हैं। अभी यहाँ धर्म-सम्बन्धी प्रसंग चल रहा है। इसके पूर्व आपको ध्यान के चार भेद बताये जा चुके हैं। वे थे : आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। आर्तध्यान और रौद्रध्यान के वास्तविक अर्थों की ओर भी संकेत किया जा चुका है। स्वयं पीड़ित होना, स्वयं दुःखित अवस्था का अनुभव करना आर्तध्यान होता है। दूसरों को दुःखी बनाना, दूसरों को पीड़ित करने के उपाय करना या पीड़ा पहुँचाने की भावना मन में लाना रौद्रध्यान है। इन दोनों—आर्तध्यान और रौद्रध्यान से जीव अनादिकाल से परिचित हैं। जन्म-जन्मान्तर से जीव इन दोनों प्रकार के विकारों से आक्रान्त है। जिस वस्तु का हमारे पास अभाव है उसकी प्राप्ति का हम चिन्तन करते हैं और उसके बिना दुःख का अनुभव करते हैं परन्तु जो वस्तु हमारे पास में तो है परन्तु अनिष्टकर है या हमारी इच्छा के प्रतिकूल है उसको हम अलग करना चाहते हैं। हमारे हितों को, हमारे स्वार्थ को जो हानि पहुँचाता है, उसका हम बुरा सोचते हैं। बुरा सोचते-सोचते बुराई की इस सीमा तक पहुँच जाते हैं कि हम संसार से उसका उन्मूलन करने पर ही तुल जाते हैं। इस प्रकार का विकृत चिन्तन रौद्रध्यान के अन्तर्गत आता है। ये आर्त और रौद्रध्यान अनेक बार हमने किये किन्तु इनसे हमारे साध्य की साधना नहीं हो पाई। शास्त्रकारों का कथन है कि जिन आर्त और रौद्र ध्यानों के करने से हमारा एक भी उद्देश्य पूरा नहीं हुआ और किसी भी प्रयोजन की सिद्धि नहीं हुई उनके करने से क्या लाभ ? स्वयं के दुःख के विनाश के लिए हमने आर्तध्यान किया परन्तु हमारा दुःख मिट नहीं पाया। दूसरों को दुःख पहुँचाने के लिए हमने रौद्रध्यान किया किन्तु हमारे रौद्रध्यानमात्र से उद्दिष्ट व्यक्ति दुःखी नहीं हुआ। बुद्धिमान व्यक्ति को सोचना चाहिये कि जिस क्रिया को करने से कोई लाभ नहीं, किसी भी प्रकार की इष्ट-सिद्धि नहीं, उसको करने के लिए व्यर्थ में मानसिक और शारीरिक शक्ति को क्यों खराब किया जाये। विवेकशील व्यक्ति ऐसा सोचकर आर्तध्यान और रौद्रध्यान दोनों को छोड़ने का प्रयत्न करते हैं। यह सोचना कि जो आर्तध्यान

करने वाली। इस अग्नि के उदाहरण से शास्त्रकारों ने यही सिद्ध किया है कि दूसरों को दुःखी बनाने वाला व्यक्ति स्वयं भी कभी सुखी नहीं रह सकता।

दूसरा धर्म का भेद हमने बताया था 'अपाय विचय'। अपाय का अर्थ है—दुःख। "इस संसार में जीव को जिन कार्यों से दुःख प्राप्त होता हो वे कार्य मुझे नहीं करने चाहिये। जिन कार्यों से मुझे दुःख प्राप्त होता है उनसे दूसरों को भी तो दुःख प्राप्त होगा। मुझे दुःख कब होगा ? जब मेरी अशुभ काम में प्रवृत्ति होगी। मुझे मन, वचन और काया से अशुभ काम में प्रवृत्त नहीं होना है। प्रवृत्त होऊंगा, तो मुझे पाप-कर्मों के बन्धन में बँधना पड़ेगा।"

इस प्रकार का चिन्तन मनुष्य को करना चाहिए। जीवन की धुरा चिन्तन पर ही आश्रित है। चिन्तन के द्वारा कर्म बांधे भी जा सकते हैं और काटे भी जा सकते हैं। शुभ से पुण्य और अशुभ से पाप। बड़ा ही सरल मार्ग है कर्मबन्ध और कर्ममुक्ति को समझने का। आवश्यकता है केवल अनादिकाल से सुषुप्त आत्मा को जाग्रत करने की। जब नींद खुल जायेगी, आत्मा जाग जायेगी तो उसे स्वयं संसार की और अपनी वास्तविकता का ज्ञान हो जायेगा। यदि आँखें मुंदी रहीं, नींद से न जग सकीं तो जिस चक्कर में घूम रही थी उसी में घूमघुमा कर पुनः पड़ जायेगी। काता-पीना सब कपास हो जायेगा।

हां, तो मैं आपको बता रहा था कि पुण्य बांधने का, आत्मा को पवित्र करने का और सुखी बनने का ऐसा सरलतम तरीका भी है जिसके द्वारा जीवन सुखी बन सकता है, वह तरीका है मन में शुभ विचार रखने का। पुण्य के नौ भेद बताये गये हैं जिनमें पांच भेद तो ऐसे हैं जिनमें अपने घर से कुछ न कुछ निकालना पड़ता है—दान के रूप में, जैसे : अन्नदान, जलदान, स्थान-दान, बिस्तर-दान, वस्त्र-दान—आदि-आदि। इन पांच भेदों के आगे के जो चार पुण्य बताये गये हैं, 'मन पुण्णे' अर्थात्—मन से अच्छे विचार करना और सब का भला चाहना। सब के भले में ही अपना भला होता है। 'सब जीव संसार में सुखी रहें', ऐसी विचारधारा से मनुष्य स्वयं भी सुखी रहता है। थोड़ी देर के लिए मान लो कि संसार के सारे जीव तो सुखी हो गये और हम अपने ही कर्मों के उदय से दुःखी बने रहे, उस अवस्था में भी हमको सबके कल्याण की ही कामना करनी चाहिये। सब प्राणी सुखी होंगे तो हमको सतायेंगे तो नहीं। यह भी हमारे लिये बहुत बड़ा लाभ है। सब जीवों की मंगलकामना को अभिव्यक्ति देते हुए इसीलिये शास्त्र में कहा गया है :

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।"

ज्ञानी पुरुषों का कथन है, कि 'संसार में दुःख क्यों आता है ? मनुष्य दुःखी

क्यों बन जाता है, अचानक ही किसी पर आपत्तियों के पहाड़ क्यों टूट पड़ते हैं ?' इस प्रकार के विचार मनुष्य के मन में निरन्तर आते रहने चाहिये। ऐसे विचारों के आने से किसी दिन स्वतः स्फुरणा होती है कि :

"धन बिना निर्धन दुःखी, तृष्णावश धनवान"

सुख-दुःख का कारण वस्तु नहीं हुआ करती। निर्धन व्यक्ति के पास यदि धन के अभाव को दुःख का कारण माना जाये तो धनवान् के पास तो धन का सद्भाव है, वह क्यों दुःखी रहता है। इससे स्पष्ट है कि धन नाम की वस्तु *दुःख का कारण नहीं है। इसी प्रकार पुत्र का अभाव यदि दुःख का कारण हो* तो जो लोग पुत्रवान है, वे दुःखी क्यों देखे जाते ? प्रायः देखा ऐसा ही जाता है कि पुत्रहीन लोगों की अपेक्षा पुत्रों वाले अधिक दुःखी हैं। सुपात्र पुत्र होता *है तो उसके शारीरिक स्वास्थ्य की चिन्ता सताती रहती है* और कुपात्र पुत्र तो दुःख का कारण होता ही है। मारवाड़ी कहावत के अनुसार वह तो 'छाती का छोडा उतारता' ही है। सारांश यह है कि सुख-दुःख का कारण वस्तु न होकर वास्तव में हमारा मन ही है। मन यदि प्रत्येक परिस्थिति में सन्तुष्ट रहने वाला है तो व्यक्ति सुखी रहता है। मन यदि भ्रान्त है, असन्तुष्ट है, तो उसका अवश्यभावी परिणाम दुःख ही होता है। विवेकहीन मन ही वस्तु के अभाव की चिन्ता भी करता है, उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न भी करता है और न करने योग्य जो काम हैं उनको भी वह वस्तु को पाने के लिए कर बैठता है। आज तक आपने अनेक कहानियाँ भी सुनी होंगी, अनेक जीवन चरित्र भी पढ़े होंगे और स्वयं भी दुनियाँ में बहुत कुछ देखा होगा। विश्व की सारी वस्तुएँ क्या कभी किसी को मिल पाई हैं ? मनुष्य को मनुष्य के पद *के अनुसार वस्तुएँ मिलती हैं, देवताओं को उनकी योग्यता के अनुसार वस्तुओं* की प्राप्ति होती है। योग्यता के अनुसार ही वस्तु की प्राप्ति अच्छी होती है। योग्यता का अतिक्रमण करके यदि वस्तुओं की प्राप्ति हो जाये तो संभव है कि मनुष्य से न तो उनकी व्यवस्था ही हो पाये और न ही उनकी सुरक्षा हो। मन को तृष्णा से रोककर प्रत्येक परिस्थिति में संतुलित रखना चाहिये। संतुलित और समझाया हुआ जो मन है, सब के लिये मंगलकामना करने वाला जो मन है, उस मन का धनी व्यक्ति अपने घर से बिना कुछ लिये-दिये ही पुण्य का उपार्जन कर लेता है। यह भी एक प्रकार का प्रयोग है भविष्य में *सुख-प्राप्ति का।*

दूसरा है 'वचन पुण्णे'। वाणी द्वारा भले शब्द बोलना भी पुण्य का उपार्जन है। भले शब्दों में पुण्य के भले शब्द अलग हैं और धर्मध्यान के भले शब्द अलग हैं। धर्मध्यान के भले शब्द ऊँचे दर्जे के होते हैं। इन शब्दों

में पाप का लवलेश तक नहीं होता। उदाहरण के लिये किसी को कहना, "अरे! तुमको पानी पीना है न! तो छानकर पीना।" इन शब्दों से सामने वाले व्यक्ति को पानी पीने की सहूलियत हो गई, उसकी प्यास मिट गई, इससे पानी पिलाने का पुण्य उसको मिल गया। परन्तु धर्म-सम्बन्धी भले शब्द इनसे भिन्न होते हैं। धर्म से सम्बन्ध रखने वाले शब्द तो होंगे, 'अनछाना पानी मत पीना' इसमें तो निषेधमात्र है। दूसरे शब्दों में, यहाँ निषेध की आज्ञा है। आखिरकार छानकर भी यदि पानी पीया जायेगा तब भी वह कच्चा तो है ही, वह तो सचित्त है। असंख्य जीवों का अस्तित्व उसमें है। तो हम आपसे कह रहे थे कि वचन से भले शब्द बोलना भी पुण्यार्जन का कारण है। पाप को सर्वथा टालते हुए निरवद्य भाषा बोलना धर्मध्यान के अन्तर्गत ही आता है।

इसी प्रकार 'कायपुण्णे' अर्थात् शरीर से यदि हम अच्छी चेष्टाएँ करें और कुचेष्टाओं से बचे रहें तब भी पुण्यार्जन होता है। इसके अतिरिक्त यदि काय-गुप्ति से शरीर को प्रवृत्त कराया जाये तो धर्म भी हो जाता है। जो व्यक्ति ठीक ढंग से चेष्टा करता है तो उसके आसपास का वातावरण भी ठीक रहता है। इसके विपरीत यदि बुरी चेष्टाएँ की जायें तो सामने वाला व्यक्ति रुष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिये आप 'अंगूठा दिखाने' को ही ले लीजिये। अंगूठा दिखाने के रूप में यदि अंगूठा दिखाया जाये तो देखने वाला चिढ़ जायेगा कि उसे अंगूठा दिखाया जा रहा है। तिलक करने के लिये यदि अंगूठा दिखाया जाये तो देखने वाला बड़ा प्रसन्न हो जाता है। ये दोनों काया की ही तो क्रियाएँ हैं किन्तु एक क्रिया तो पाप, कलह और क्लेश को जन्म देने वाली है और दूसरी क्रिया शान्ति और पुण्य को पैदा करने वाली है। कायगुप्तिपूर्वक शरीर से व्यवहार इसलिये करना चाहिये कि किसी भी जीव को कष्ट न होने पाये। निरवद्य काया की प्रवृत्ति धर्म में आ जाती है। संसार में प्राणी दुःखी क्यों होते हैं—इस प्रकार के विचार सदा करना चाहिये। यह धर्मध्यान का दूसरा भेद है।

'विपाक विचय' यह तीसरा भेद है। यह हमारी क्रियाओं के परिणाम का सूचक है। क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं: पाप की क्रिया और पुण्य की क्रिया। पाप की क्रिया का परिणाम दुःख होता है और पुण्य की क्रिया का परिणाम सुख। यह विपाक का साधारण नियम है। विशेष नियम तो साधारण नियम के ऊपर होते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हमने पाप क्रिया की जिसका कि फल हमको दुःख के रूप में मिलना चाहिये था किन्तु कुछ ऐसे भी उपाय हैं जिनके सम्पादन से वह पाप क्रिया भी सुख के परिणाम में परिवर्तित हो जाया करती है। इसी प्रकार सामान्यरूप से पुण्यक्रिया का परिणाम तो सुख के रूप में ही मिलना चाहिए किन्तु कतिपय ऐसी पद्धतियाँ भी हैं जिनके कारण

सुख, दुःख के रूप में बदल जाता है। यह साधारण बात नहीं है, साधारण बात तो यह है कि पाप क्रिया का परिणाम दुःख होगा और पुण्यक्रिया का परिणाम सुख होगा। परन्तु 'पाप के बदले सुख मिलना और पुण्य के बदले दुःख मिलना' यह विशेष बात है। इस विशेष बात को समझने के लिये मस्तिष्क की स्थिरता की आवश्यकता है। उदाहरण से आपको यह बात अच्छी तरह समझ में आ जायगी। आकड़े के पत्ते हैं नीम के पत्ते हैं—ये कड़वे होते हैं। यह कोई रहस्य की बात नहीं है, इसे सभी जानते हैं। परन्तु इन कड़वे पत्तों को भी विशेष प्रक्रिया से मीठा बनाया जा सकता है। विशेष प्रकार की औषधियों का पुट देने से ये कड़वे पत्ते भी मीठे बन जाते हैं। इसी प्रकार करेले और करवीर (कैर) के फल कितने कड़वे होते हैं किन्तु उनके मुरब्बे और आचार मीठे भी होते हैं और खट्टे भी। पुट चीज ही ऐसी है जो न केवल वनस्पतियों में किन्तु मनुष्यों में भी परिवर्तन ला देता है। कोई विवेकशील व्यक्ति यदि बेतुका बोल जाये तो लोग उसे कहने लगते हैं, इसको दूसरों का पुट लग गया है। 'पुट लगने' का यहाँ अर्थ होता है किसी अन्य व्यक्ति ने इसकी विचार-धारा को बदल दिया है। जब पुट से मनुष्य की विचारधारा बदल सकती है तो पुट के प्रयोग से वनस्पतियों में परिवर्तन आ जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यह विषय तो बहुत विस्तृत है किन्तु संक्षेप में जो पुण्य पाप में और पाप पुण्य में परिवर्तित होते हैं उनको जैन-शास्त्र में 'संक्रमणकरण' कहा जाता है। संक्रमण शब्द से ही मिलता-जुलता शब्द है 'संक्रान्ति'। संक्रान्तियाँ बारह होती हैं। आपने मोटे तौर पर दो ही संक्रान्तियों के नाम सुन रखे हैं मकर संक्रान्ति और कर्क संक्रान्ति। इन दो संक्रान्तियों में सूर्य का उत्तरायण और दक्षिणायन के रूप में परिवर्तन होता है। दूसरे शब्दों में सूर्य एक राशि से बदलकर जब दूसरी राशि में आता है तो उसको संक्रान्ति कहा जाता है। इसी से मिलता-जुलता अर्थ संक्रमण का है, वह भी एक दशा से बदलकर दूसरी में आना है। कर्मबन्ध के आठ करण होते हैं जिनमें से यह (संक्रमण) दूसरा करण है। संक्रमण में यह विशेषता होती है कि पहले सत्ता में जो प्रकृति बन्धी हुई है, मान लो वह अशुभ रूप में बन्धी हुई है और वर्तमान में जो प्रकृति बंध रही है वह शुभ रूप में है, उस समय कुछ ऐसे परिणामों की धारा चल जाती है कि वह शुभरूप में बंधने वाली प्रकृति भी उस अशुभरूप में बंधी प्रकृति के साथ जाकर अशुभरूप में बंध जाती है। शुभ का अशुभ में संक्रमण हो जाता है। इसी प्रकार वर्तमान में अशुभ-रूप में बंध रही प्रकृति में भी विशिष्ट परिणामों की धाराएँ पहले बन्धी हुई शुभ प्रकृति में जाकर शुभरूप में परिणत हो जाती हैं। यह अशुभ का शुभ में संक्रमण है। हम जानते हैं कि इतने गूढ़ विषय को समझ पाना आपके वश

की बात नहीं है। हम और सरल शैली में आपको समझाने का प्रयत्न करेंगे। आपने पापकर्म करके अशुभ कर्म बाँध लिया किन्तु पाप करने के पश्चात् आपने पश्चात्ताप भी कर लिया, उस समय पाप का पश्चात्ताप के द्वारा संक्रमण हो गया, ऐसा समझना चाहिये। उस पाप करने वाले व्यक्ति ने पश्चात्ताप द्वारा कर्मों की इस ढंग से निर्जरा कर ली कि उसकी आत्मा तुरन्त शुद्ध हो गई। पाप के परिणामस्वरूप जितना दुःख भविष्य में भोगा जाता, वह पश्चात्ताप के ज़रिये सब कम हो गया। अशुभ का शुभ में रूपान्तरण हो गया। नीम और आक के कड़वे पत्तों का भी आचार लोग कितना स्वादिष्ट बना देते हैं, इसकी हमें भी अनुभूति है। मुरब्बा तक बनता है उन कड़वे पत्तों का। इसी प्रकार आपने धर्म का काम किया जो वास्तव में अच्छा प्रशंसनीय था और बाद में यदि यह पश्चात्ताप करने लग गये कि 'व्यर्थ में ही सामायिक लेकर बैठ गये, महाराज साहब ने भी व्याख्यान में बड़ा लम्बा समय लगा दिया, इससे तो अच्छा था अपने घर पर ही बैठते या कुछ काम-काज करते' तो समझ लेना चाहिये कि सारे किये-कराये धर्म के कार्य पर पानी फिर गया। किसी अतिथि को मालताल खिलाकर अन्त में यदि यह कह दिया जाये कि, "साहब! आपने कभी ऐसे पदार्थ अपने बाप-दादों के समय में भी नहीं खाये होंगे।" तो खिलाया-पिलाया सभी ज़हर बन जायेगा। कहने का आशय यह है कि जो व्यक्ति मन में यह चिन्तन किया करता है कि 'मनुष्य दुःखी क्यों हो जाता है' उसके मन में किसी अवस्था में यह स्फुरणा स्वयं हो जाती है कि अमुक कार्यों का परिणाम दुःख होता है और अमुक कार्यों का परिणाम सुख होता है। यह सारी विचारधारा 'विपाक विचय' के अन्तर्गत आती है।

धर्मध्यान का चौथा भेद है 'सस्थान विचय'। संस्थान कहते हैं आकार को। आकार भी किन-किन का? हमारी आत्मा का आकार, इस संसार में हमारी आत्मा जिस जगह पर परिभ्रमण कर रही है उस जगह का आकार, हमारे शरीर का आकार, यह सब सस्थान विचय के अन्तर्गत आता है। इसके अतिरिक्त, इस संसार में परिभ्रमण करने वाले जितने भी प्राणी हैं उन सब का आकार भिन्न-भिन्न क्यों है? सबके आकर एक सरीखे क्यों नहीं हैं? एक ही जाति के प्राणियों में आकृति की पारस्परिक भिन्नता क्यों है? इस प्रकार का विचार 'संस्थान विचय' कहलाता है। ये सब धर्मध्यान के अन्तर्गत हैं।

शाश्वत सुखों की नींव ही समझना चाहिये धर्मध्यान को। शुद्ध विचारों की भूमि में बोया गया भावरूपी बीज, तपश्चरण रूपी जलवायु का संसर्ग प्राप्त करके अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होता हुआ, आत्मा को शाश्वत-सुखों के भण्डार अनन्त एवं अक्षय मोक्ष में ले जाता है।

जैन-भवन, डेह (नागोर) १६ अगस्त, १९७९

"जयध्वज प्रकाशन समिति के सदस्यों की नामावली"

वंशपरम्परागत सदस्य	निवास	वतन
१ सर्वश्री सुगन चन्दजी	रायपुर	
प्रेमचन्दजी धोमाल	(म० प्र०)	सियाट
२ सर्वश्री लालचन्दजी मरलेचा	मद्रास	सोजत रोड
३. सर्वश्री मांगीलालजी		
चम्पालालजी गोटावत	बंगलोर	सोजत सिटी
४. सर्वश्री जवरचन्दजी		
रतनचन्दजी बोहरा	मद्रास	कुचेरा
५ सर्वश्री मिश्रीमल जी		
लूणकरण जी नाहर	लखनऊ	कुचेरा
६. सर्वश्री जवरीमल जी		
सज्जनराज जी बोहरा	बंगलोर	ब्यावर
७. सर्वश्री नेमीचन्दजी	बंगलोर	ब्यावर
प्रेमचन्दजी खीचा	बंगलोर	ब्यावर
८. सर्वश्री सुगाल चन्द जी सिंघवी	मद्रास	सियाट

आजीवन सदस्य		
१. श्रीमान् फूलचन्दजी लूणिया	बंगलोर	पीपलिया
२. श्रीमान् भवरलाल जी		
विनायकिया	मद्रास	करमावास (पट्टा)
३. श्रीमान् रणजीतमल जी मरलेचा	मद्रास	सोजत रोड
४. श्रीमान् पन्नालाल जी सुराणा	मद्रास	बालाउना
५. श्रीमान् लालचन्द जी डागा	मद्रास	रायपुर
६. श्रीमान् भवरलाल जी गोठी	मद्रास	ब्यावर

अशुद्धि-पत्र

३३वें पृष्ठ के आरंभ में निम्न अंश भूल से छूट गया है जो इस प्रकार है :
गता को कम से कम महत्त्व देना तो छोड़ दें। यदि कोई ऐसा कहता है कि "तुम जिस वस्तु का त्याग ही नहीं कर सकते, उस वस्तु को महत्त्व नहीं भी